जैन दिवाकर जन्म शताब्दी [illegible]

प्रकाशक

श्री वर्धमान स्थानक वासी
जैन श्री संघ कोटा

मुद्रक

ज्योति प्रिन्टिंग प्रेस

रामपुरा बाजार, कोटा-६ (राज॰)

फोन : ५२१२

जगत् वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता
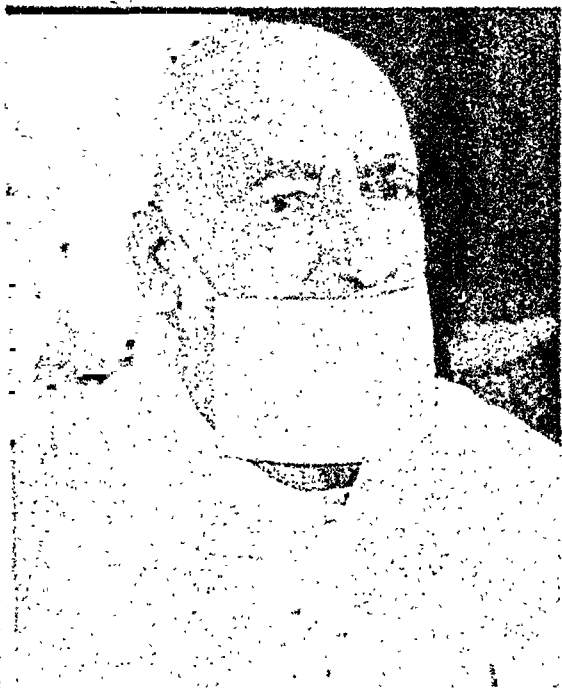
पं० मुनि श्री चौथमल जी महाराज

जन्म कार्तिक शुक्ला १३ सं० १९३४ रविवार
दीक्षा फाल्गुन शुक्ला ५ सं० १९५२ रविवार
स्वर्गवास मिगसर शुक्ला ९ सं० २००७ रविवार

समर्पण

परम पूजनीय जैन दिवाकर

गुरुदेव श्री चौथमल जी म० सा०

को

卐

卐

卐
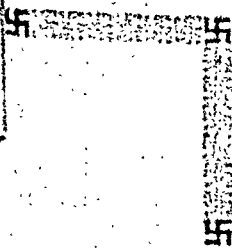
अर्पण कर यह आपकी, वस्तु आपको आज ।
धन्य समझता है, गुरो ! सारा जैन समाज ।।

卐

दे गये साहित्य सर्जन कर अमिय का कोष ।
गुरो ! उससे पा रहा है जगत मन यह तोष ।।

जैन आगम की कथाएँ प्रेरणा दे नित्य ।
कह रही हैं 'धर्म सच है और जगत अनित्य' ।।

आपकी यह कृति समर्पित आपको साभार ।
कर उदय मुनि आज, पाता हर्ष अपरम्पार ।।

卐

दिव्य ज्योति प्रकाशक जैन दिवाकर

श्री चौथमलजी म. सा.

ले० प्रिय सुशिष्य पंडितरत्न मुनि श्री उदयचन्दजी म. 'जैन सिद्धान्ताचार्य'

दिवाकर की एक किरण,
अज्ञान-तम करती हरण।
दिवाकर की नव किरण,
जन्म-अघ करती क्षरण॥
निज सहस्र कर से हो उदय,
नष्ट करती मूलसे मद मोह भय।
वे 'उदय' प्रिय प्राण-धन हैं,
चरण में शत शत नमन है।
कर रहे हम आज उनका पथ वरण,
दिवाकर की इककिरण ! ॥ 卐 ॥

ज्योति की एक आभा निर्मल पत्र में चमक पैदा कर देती है। ज्योति स्वरूप गुरुदेव जैन दिवाकरजी महाराज सा० का भी वैसा ही महत्व है। सूर्य की किरण जब निर्मल कांच प पड़ती है तब वह हीरकणी सा चमकता है, उसी भांति १०० श्री चौथमलजी म० सा० की ज्योति स्वरूप आकृति कि अज्ञानी के समक्ष होती है तो उसकी आत्मा में हीरे जैसी शु भावना उभर जाती है यो पूज्य गुरुदेव में दिवाकर तत्व हो का महत्व सिद्ध होता है।

वह देश उस देश का विशेष परिवार कैसा धन्य होता है, जहाँ ऐसी दिव्यात्मा जन्म लेकर ज्ञान-तप-साधना व्रत में लीन हो पुरुषार्थ से वांछित फल प्राप्त करते हैं। ऐसा शुभ योग दैवयोग से हुआ करता है अन्य को तो संसार की कामनाओं में लिप्त हुए ही प्राण का विसर्जन भी करना पड़ता है और उसके विसर्जन का किसी को पता ही नहीं होता। ये पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों का फल होता है कि व्यक्ति अच्छे शहर में, अच्छे कुटुम्ब में जन्म लेकर भवसागर से तरने के लिए निवृत्ति मार्ग का पथिक बन जाता है।

बड़े गुरूदेव श्री चौथमलजी म० सा० के भी पूर्व जन्म के शुभ कर्मों ने क्षणिक ऐहिक लीला करवा कर उन्हें शीघ्र ही निवृत्ति मार्ग पर मोड़ दिया। मध्य प्रदेश के नीमच नगर में वि० स० १९३४ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी रविवार के दिन श्रीमती माता केसरदेवी की कोंख से श्रीमान् पिता श्री गंगारामजी चौरड़िया के द्वारा ओसवाल कुटुम्ब में शुभ घड़ी में गुरु महाराज का शुभ जन्म हुआ था।

आप श्री का सोलह वर्ष की आयु में ही प्रतापगढ़ निवासी श्री पूनमचन्द जी की सुपुत्री श्री गुणवती मानकुँवरी के साथ बड़ी सज्जा से विवाह सम्पन्न हुआ था।"

अचानक एक दिन समाचार मिले कि आपके भाई कालूराम जी के हत्यारों का पता लग गया है और वे पुलिस द्वारा पकड़ लिये गये हैं। अब उनके लिए सरकारी न्याय के अनुसार दण्ड व्यवस्था होगी एवं उन्हें मौत की सजा भी मिल सकेगी इन समाचारों से आपकी माता श्री केसरदेवी का हृदय

[illegible] नहीं मानो, अतः तुम [illegible] दीक्षा [illegible] की उपासना करूँगी।"

माता की वैराग्य की भावना ने आपको भी [illegible] दिया और श्री चौथमल जी को ऐसा लगा कि [illegible] विकार मेरे इस लौकिक देह पर [illegible] रहे हैं। यों विचार करते हुए उन्होंने भी [illegible] कहा—माता जी! यह तुम्हारा प्यारा पुत्र भी उस दीक्षा भगवती का उपासक बनेगा। यह भी अब इस कलि-मल वाले गृहस्थ के दल-दल में नहीं फंसा रहेगा। कविवर परम दयालु श्री हीरालाल जी महाराज सा० की कृपा से १८ वर्ष की आयु में ही बोलिया ग्राम (म. प्र.) में विक्रम सं० १९५२ फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार के दिन दीक्षा देवी के चरण पकड़े।

दीक्षा लेने के पश्चात् आपने जैनागमों के अध्ययन में लगकर उनका सार ग्रहण करने के साथ-२ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, प्रभृति भाषाओं की मालाओं को कंठाभरण बनाया। इनके सिवाय भी आप जैनेत्तर गीता, उपनिषद, रामायण, महाभारत कुरान शरीफ, बाइबिल, गुलिस्तां और बोस्तां आदि अनेक ग्रन्थों का मंथनकर उनका नवनीत निकाला इतने अध्ययन शीलता की निरंतरता में रहते हुये भी अपने राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात; उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, बम्बई

आदि को अपने पाद विहार से पवित्र किया। वहाँ के धनी-मानी, राजा-महाराज, रानियें-महारानियें, नवाब, दीवान, जागीरदार, जमींदार, कोठारी, कामदार, गुरुद्दों, सेठ-साहूकार और झोंपड़ियों के सर्व साधारण प्रजाजनों से महलों तक के वैभवशाली रईसों को भी सुमधुर सदुपदेशों से सद्मार्ग के लिए प्रबुद्ध किया समाज ने भी सम्मान स्वरूप आपको जगद् वल्लभ जैन दिवाकर, प्रसिद्ध वक्ता आदि उपाधियों से विभूषित किया।

आपने अपनी अध्ययन शीलता को प्रमाणित करने के लिये निर्ग्रन्थ प्रवचन, भगवान महावीर का आदर्श जीवन, श्री जम्बूकुमार, जैन सुबोध गुटका, भगवान नेमिनाथचरित्र, सम्यक्त्व कौमुदी, दिवाकर दिव्य ज्योति के २० भाग इत्यादि गद्य-पद्य रचनाओं की सम्पदा प्रस्तुत की।

गुरुदेव ने समाज को संगठित रहने के लिए सद्प्रेरणा दी कोटा में दिगम्बर आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज सा० और वीर पुत्र आनन्द सागर सूरीश्वर के सम्मिलित व्याख्यान किए। स्थानकवासी संप्रदायों का एकीकरण करने के लिए ब्यावर में श्री वीर वर्धमान श्रमण संघ का बीजारोपण किया श्री १००८ श्री आनन्द ऋषि जी म. सा. प्रधानाचार्य बनाये गये और वृहत् साधु सम्मेलन की योजना बनाई थी उसी से सादड़ी में स्थानक वासी संप्रदायों का विशेष एकीकरण हुआ। बड़े गुरुदेव दिवाकर जी म. सा. देशना एवं कृपा से अनेक मुमुक्षु जीवों ने दीक्षा ली।

जीवनान्त के समय आपने कोटा में चातुर्मास किया था। चातुर्मास के पश्चात् नयापुरा, नन्द भवन में आपको व्याधि

[illegible] नाम के ही कारण नहीं। इसके और भी कारण हैं। तीर्थंकर भगवान् के पवित्र आठ महाप्रातिहार्यों में अशोक वृक्ष की सब से पहले गणना की गई है। तीर्थंकर देव जब जहाँ कहीं होते हैं तो वह भगवान् पर अपनी शीतल छाया प्रसारित करता है और मानो यह सूचना करता है कि तीर्थंकर भगवान् का दर्शन ही समस्त प्रकार के शोक का निवारण कर देता है। भगवान् स्वयं अशोक हैं और अशोक की छाया में रहते हैं तो फिर उनका सम्पर्क भी मनुष्य को कैसे अशोक नहीं बना देगा।

भूल नहीं जाना चाहिए कि भगवान् अनन्तनाथ और भगवान् मल्लिनाथ ने अशोक वृक्ष की शीतल और सघन छाया में ही जन्म-मरण का अन्त कर देने वाली भागवती दीक्षा अंगीकार की थी। इस कारण भी अशोक वृक्ष हमारा अत्यन्त प्रिय तरु है।

कितना धन्य और भाग्यवान् है यह अशोक तरु, जिसे तरण तारण महाप्रभु का इतना सान्निध्य प्राप्त होता है।

आगम का अर्थ है शास्त्र। सच्चे शास्त्र
जो सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् के कहे हुए
सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आगम कदापि मिथ्या
जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, अज्ञान नहीं,
है और न वह जान-बूझ कर किसी को

सर्वज्ञ भगवान् का कथन है । अतएव वीतराग के कथित आगम पर हम पूर्ण रूप से श्रद्धा कर सकते हैं ।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान् अपने हाथों से शास्त्र लिखने बैठते हैं । नहीं, ऐसा नहीं होता । तीर्थंकर देव सर्वज्ञता प्राप्त करके अर्थ रूप उपदेश करते हैं । उनके प्रधान शिष्य गणधर उसे सुनकर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं, अर्थात् निबद्ध करके शास्त्र का रूप प्रदान करते हैं । गणधर भी अत्यन्त बुद्धिशाली और उच्च कोटि के महात्मा होते हैं । भगवान के मुख से थोड़ी सी बात सुनकर भी उसे विशाल रूप में परिणत कर लेते हैं । तत्पश्चात् वे अपने शिष्यों को यह आगम सिखलाते हैं और वे शिष्य अपने शिष्यों को । इस प्रकार परम्परा चलती रहती है । इसी परम्परा की बदौलत आज भी हमें आगम प्राप्त हैं ।

हमें कितना कृतज्ञ होना चाहिए उन महान् सन्तों के प्रति, जिन्होंने घोर तपश्चरण करके शास्त्रों की परम्परा आज तक चालू रखी है । आजकल तो शास्त्र छपने लगे हैं, पर छपने से पहले हाथ से लिखे जाते थे । उनके लिखने में बहुत समय लगता था बहुत श्रम होता था । परन्तु लिखाई का रिवाज चलने से पहले तो आगम मौखिक में रूप में ही चले आते थे । गुरु अपने शिष्य को आगम कंठस्थ करा देता था और वह अपने शिष्य को । उस समय आगमों की रक्षा करना आसान काम नहीं था उस समय में कई बार दुर्भिक्ष आदि के कारण ऐसे अवसर आये कि आगम विस्मृत होने लगे । तब भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध आगमवेत्ता आचार्य देवर्द्धि क्षमा श्रमण आदि मुनिवर वीर निर्वाण सं० ९८० में एकत्र हुए और उन्होंने आगमों को लिखकर रक्षा की । यद्यपि वे सम्पूर्ण आगम की

रक्षा करने में समर्थ न हो सके, फिर भी आगमों का जो हिस्सा आज बच रहा है, वह भी कुछ कम नहीं है। उसका भलीभांति अनुशीलन लिया जाय तो तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

आगम दो भागों में बांटा हुआ है–अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। साक्षात् तीर्थंकर देव द्वारा कथित और गणधरों द्वारा ग्रथित आगम अंगप्रविष्ट कहलाता है। वह बारह प्रकार का है— (१) आचारांग (२) सूत्र कृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृ धर्मकथा (७) उपासकदशा (८) अन्तकृद्दशा (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद

इनके अतिरिक्त जो आगम हैं वे विभिन्न स्थविर आचार्यों द्वारा बनाये गये हैं। वे अंगबाह्य कहलाते हैं। उनमें मूलभूत १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और आवश्यक हैं। उनके नाम इस प्रकार हैः—

उपांग—(१) औपपातिक (२) राजप्रश्नीय (३) जीवाभिगम (४) प्रज्ञापना (५) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (६) सूर्य प्रज्ञप्ति (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति (८) निरयावलिका (९) कल्पावतंसिका (११) पुष्पिका (११) पुष्पचूलिका (१२) वह्निदशा।

चार मूलसूत्र (१) उत्तराध्ययन (२) दशवैकालिक (३) नन्दी और (४) अनुयोगद्वार।

चार छेदसूत्र— (१) दशाश्रुतस्कंध (२) बृहत्कल्प (३) निशीथ और (४) व्यवहार।

इनमें से दृष्टिवाद पूरा का पूरा विच्छिन्न हो गया है। अतएव आजकल मूल ३२ शास्त्र ही उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न विषयों के अनेक

शास्त्र लिखे हैं। उनकी कोई संख्या नहीं है। उनमें जो पूरी तरह वीतराग की वाणी के अनुकूल हैं, वे सब प्रामाणिक हैं। उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में होता है।

आगमों की भाषा प्रायः अर्द्धमागधी है। भगवान् महावीर ने तत्कालीन लोकप्रचलित भाषा अर्द्धमागधी में ही उपदेश किया था। अतएव उसी भाषा में हमारे मूल आगम रचे गये। परन्तु बाद में उन पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। आजकल हिन्दी भाषा में भी प्रायः सब के अनुवाद हो चुके हैं। अतएव अब आगमों को पढ़ना और समझना उतना कठिन नहीं रहा। जिन्हें आत्मा का कल्याण करने की इच्छा है, जो अपने जीवन को सफल करना चाहते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अज्ञान के अंधकार से बाहर निकलना चाहते हैं, उन्हें यथाशक्ति आगमों का अभ्यास करना चाहिए। स्वयं पढ़ने की योग्यता न हो तो विद्वानों के मुख से सुनना और समझना चाहिए।

卐

इन्द्रभूति

जैन जगत् में जो महापुरुष "गौतम स्वामी" के नाम से विख्यात हैं, उनका असली नाम इन्द्रभूति था। गौतम उनका नाम नहीं, गौत्र था। जाति से वह ब्राह्मण थे और अपने समय के सबसे बड़े ब्राह्मण विद्वानों में उनकी गणना की जाती थी। वे वैदिक धर्म को मानते थे और वैदिक धर्म के अनुयायी उन्हें बहुत मानते थे। उनका सारा परिवार सुशिक्षित था। वह ऊबर गांव के निवासी थे। पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था।

प्राचीन काल में ब्राह्मण विद्वान यज्ञ-याग आदि वाह्य क्रिया काण्ड में रचे-पचे रहते थे। उसी में वे धर्म मानते थे। वे जो यज्ञ करते थे, उनमें गायों की, घोड़ों की, बकरों की, यहां तक कि मनुष्यों की भी वलि दी जाती थी। देश में सर्वत्र इस यज्ञ-धर्म का प्रचार था। उस समय के यह ब्राह्मण पण्डित यज्ञ आदि के सिवाय ब्रह्मज्ञान (आत्म तत्व के ज्ञान) से वंचित थे। ब्रह्मज्ञान क्षत्रियों के पास था। प्राचीन कथाओं से पता चलता है कि शनैः शनैः ब्राह्मण पण्डितों को झुकाव भी ब्रह्मज्ञान की ओर हुआ और उन्होंने क्षत्रियों से यह विद्या सीखी।

भगवान् महावीर के समय में, यद्यपि ब्राह्मण भी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हो चुके थे, फिर भी यज्ञ-याग की परम्परा नष्ट नहीं हुई थी। हजारों वर्षों से धर्म के नाम जो रिवाज़ चला आ रहा हो, वह जल्दी मिट भी तो नहीं सकता।

प्रथम तो एक वार चला हुआ कोई भी रिवाज़ कठिनाई से मिटता है, फिर धर्म का वाना पहनने वाले रिवाज़ तो और भी कठिनाई से। इसके सिवाय उस समय तक, जान पड़ता है, ब्राह्मण विद्वानों को ब्रह्म (आत्मा) के विषय में पूरी आस्था उत्पन्न नहीं हुई थी। इसका प्रमाण यही है कि इन्द्रभूति जैसे अपने काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को भी आत्मा के अस्तित्व का पूरा भरोसा नहीं था। वे पाँच सौ शिष्यों के शिक्षक थे; महान् उपाध्याय कहलाते थे। फिर भी आत्मा के सम्बन्ध में उनके दिल में संदेह भरा हुआ था। इसी को कहते हैं–दिया तले अंधेरा होना। आत्मा नामक कोई स्वतंत्र तत्व है भी या नहीं? इस संशय को वे दूर नहीं कर सके थे। इससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

ऐसे समय में भगवान् महावीर की तपः साधना सम्पूर्ण हुई और उन्होंने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का पद प्राप्त किया।

मध्यापापा नगरी की घटना है। वहां सोमल नामक एक ब्राह्मण ने यज्ञ करने का विचार किया। उसने यज्ञ कराने लिए सर्व ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विद्वान जानकर ग्यारह पंडितों को आमंत्रित किया, जिनमें इन्द्रभूति प्रधान थे। यज्ञस्थल से ईशान कोण में महासेन नामक एक उद्यान था। उसी उद्यान में भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे। देवों द्वारा निर्मित समवसरण में विराजमान होकर भगवान् जगत् के कल्याण हेतु धर्मदेशना देने लगे। भगवान् की अमृतमयी वाणी सुनकर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए आकाश-मार्ग से सैकड़ों विमानों में बैठकर चार प्रकार के देवगण आते दिखाई दिये।

आकाश-मण्डल दिव्य विमानों से आच्छादित हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो स्वर्ग के निवासी देव सब के सब इस वसुधा पर अवतरित हो रहे हैं। इन देवों को देखकर यज्ञ करने वाले ब्राह्मण अभिमान से फूल उठे। सोचने लगे-स्वर्ग के देवता हमारे यज्ञ की आहुति ग्रहण करने आ रहे हैं। यह हमारी बड़ी अतुल्य सफलता है। देवगण के विमान ज्यों-ज्यों ऊपर से नीचे की ओर उतर रहे थे, पण्डित का अभिमान ऊँचा चढ़ रहा था।

पर यह क्या ? यज्ञ का स्थल एक ओर रह गया, पण्डित देवताओं की ओर टकटकी लगाये रह गये और देवता आगे चले गये। उन्होंने यज्ञस्थान की ओर ध्यान नहीं दिया और सीधे महासेन उद्यान में जा पहुंचे, जहां तीन लोक के नाथ, परम वीतराग, श्रमण भगवान् महावीर धर्मदेशना कर रहे

है। [illegible]

भगवान् का [illegible] । [illegible] जाने-जाने [illegible] पहुंची। नगर में सर्वत्र [illegible] । महावीर की प्रशंसा होने लगी। लोग कहने लगे— [illegible] सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् का पदार्पण हुआ है। क्या ही [illegible] रूप है उनका। उनके [illegible] का वर्णन करना असंभव है। कैसा देदीप्यमान [illegible] भाल है। उनके चेहरे पर वीतरागता की अद्भुत श्री विराजमान है। उनके मुख से वचन ऐसे निकलते हैं जैसे सुधाकर से सुधा की वृष्टि हो रही हो। वाणी में अपूर्व मधुरता है। विषय का निरूपण ऐसा सुसंगत और सम्बद्ध होता है कि श्रोता को तनिक भी संशय नहीं रह जाता। सरल भाषा में गूढ़ से गूढ़ विषय का प्रतिपादन करने की ऐसी क्षमता आज तक अन्यत्र नहीं देखी गई। लाखों देवता उनके चरण-कमलों की सेवा करते हैं। आज हमारा अहोभाग्य है कि ऐसे लोकोत्तर महापुरुष के दर्शन और उपदेश श्रवण करने का शुभ्रवसर मिला।

महा पण्डित इन्द्रभूति ने इस प्रकार भगवान महावीर की प्रशंसा सुनी तो हृदय में ईर्ष्या की आग भड़क उठी। महावीर की इस ख्याति को वह सहन न कर सके। कहने लगे- इस भूतल पर मुझसे बढ़कर विद्वान कौन है? जान पड़ता है, कोई धूर्त्त पुरुष आया है, जिसने अपनी माया से इन अज्ञ लोगों को चमत्कृत कर दिया है। मगर उसे यह पता नहीं होगा कि इस नगर में इन्द्रभूति विद्यमान है। मैं अभी उसके पास जाता हूँ और उसकी सर्वज्ञता की कलई खोल देता हूँ।

इस प्रकार ईर्ष्या से प्रेरित होकर इन्द्रभूति गौतम ने अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर महासेन उद्यान की ओर

प्रस्थान किया। मार्ग में उनके शिष्य बातें करते जा रहे थे कि आज गुरूजी को महान् विजय प्राप्त होने वाली है।

समवसरण के निकट पहुंच कर इन्द्रभूति ने मान स्तम्भ देखा। उसे देखते ही उनका आधा मान गल गया। वह आगे बढ़े और भगवान् के पास पहुंचे। चौंतीस अतिशयों से सुशोभित और मनुष्यों देवों तथा देवेन्द्रों से परिवृत भगवान् के भव्य मुखारविंद को देखते ही इन्द्रभूति जी चकित एवं आत्मविस्मृत हो गये। हृदय बलात् उनकी ओर आकर्षित होने लगा। सहसा प्रीति का भाव उत्पन्न हो गया। वाणी मूक हो गई। जो कुछ भी सोच कर आये थे, सब भूल गये वह खोये से भगवान् के सामने जाकर खड़े हुए।

इन्द्रभूति की मानसिक स्थिति भगवान् से छिपी नहीं थी। भगवान् ने उनसे कहा—इन्द्रभूति गौतम ! तुम आ गए ?

भगवान् महावीर के मुख से अपना नाम और गोत्र सुनकर इन्द्रभूति को अत्यन्त विस्मय हुआ। आज से पहले उनका कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। गौतम सोचने लगे—यह मेरा नाम और गोत्र भी जानते हैं ! मगर इन्हें यह कैसे पता चल गया।

फिर गौतम ने विचार किया उँह, इसमें क्या विशेषता है ! मैं जगत् में प्रसिद्ध हूँ। कौन मुझे नहीं जानता ? नाम गोत्र बतला देने से ही मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मान सकता। हाँ, मेरे मन में दीर्घकाल से जो संशय घर किये बैठा है, उसे यह जान लें और प्रकट कर दें तो समझूं कि सर्वज्ञ हैं। मगर उसे जान लेना कोई हंसी-खेल नहीं।

गौतम इस प्रकार विचार हो कर

अतिशय मधुर और कोमल [illegible]

भी वह उस राग का परित्याग न कर सके। अपने कुटुम्ब-परिवार और सांसारिक सुखों सम्बन्धी राग जिनको स्पर्श भी नहीं करसकता था, वही गौतम स्वामी अपने गुरू के राग को त्यागने में असमर्थ थे।

इन्द्रभूति गणधर चार ज्ञान के धारक थे। तपस्या के प्रभाव से उनकी बुद्धि का अद्भुत विकास हो चुका था। समस्त ऋद्धियां न चाहने पर भी उन्हें प्राप्त हो गई थीं। चौदह हजार भगवान् के शिष्यों में वह सब से बड़े शिष्य थे। फिर भी उनका चित्त अत्यन्त सरल था। अभिमान छू तक नहीं गया था। अपनी भूल को स्वीकार करते उन्हें संकोच नहीं होता था। एक बार अपनी भूल के लिए उन्होंने आनन्द नामक श्रावक के घर जाकर उससे क्षमायाचना की थी। यह उनकी असाधारण महत्ता थी।

महर्षि गौतम का हमारे ऊपर महान् उपकार है। उन्होंने भगवान् के उपदेश को ग्रन्थ रूप में न गूंथा होता तो आज हम घोर अन्धकार में ही भटकते रहते। उन्होंने भगवान् के उपदेश को अपनी अतिसूक्ष्म और तीव्र प्रज्ञाशक्ति से ग्रन्थों का रूप प्रदान किया और अपने शिष्यों को याद कराया। इस प्रकार परम्परा से वह आज हमें भी प्राप्त हो सका है।

गौतम स्वामी अत्यन्त ही दयालु थे। वे जिन प्रश्नों का उत्तर जानते थे, अपने शिष्यों की विशिष्ट ज्ञान वृद्धि के लिए तथा उन्हें पूरा-पूरा विश्वास कराने के लिए भगवान् से पूछा करते थे। आज जो मूल आगम-साहित्य उपलब्ध है, उसका अधिकांश भाग गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् का कहा हुआ है।

भगवान् महावीर का निर्वाणकाल सन्निकट आ गया।

उन्होंने सोचा—गौतम के सामने मेरा निर्वाण होगा उसे दुःख हो जायगा। अतएव भगवान् ने उन्हें अन्यत्र भेज दिया। वह लौट कर आ भी न पाये थे कि भगवान् शरीर त्याग कर परमधाम पहुँच गये। इस घटना से गौतम स्वामी के हृदय को धक्का लगा। उनका मोह उसी समय दूर हो गया—राग टूट गया। केवल ज्ञान की संपूर्ण ज्योति उनकी आत्मा में जगमगा उठी। बारह वर्ष केवली अवस्था में रह कर वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

ईखुरस

इक्षु, ईख या ईंख के रस की मिठास को कौन नहीं जानता? उसकी मिठास बहुत उत्तम होती है। ईख खेतों में बोई जाती है। उसे पर्व-बीज वनस्पतियों में गिना गया है। टुकड़े-टुकड़े करके किसान उसे बोते हैं। ईख के रस से गुड़ और शक्कर बनाई जाती है।

आगे चलकर भगवान् ऋषभ देव का परिचय दिया जायगा। उससे विदित होगा कि एक वर्ष तक निराहार रहने के पश्चात् भगवान ने सबसे पहले कुमार श्रेयांस के हाथों से ईक्षुरस ग्रहण करके ही पारणा की थी। भगवान् आदिनाथ उस युग में सबसे पहले साधु बने थे। उस समय की जनता साधुओं को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। भगवान् ने छह महीने तक तो आहार लेने की इच्छा ही नहीं की। छह महीने बाद आहार लेना चाहा तो वे इधर उधर आहार के निमित्त, यथासमय भ्रमण करने लगे। भगवान् को भ्रमण करते देख

और अपने घर आया देख, लोग अपना अहोभाग्य समझते। उनके चरणों में गिरते। अत्यन्त भक्तिभाव प्रकट करते। कोई उन्हें हाथी घोड़ा देने की इच्छा करता, कोई रत्नजड़ित आभूपणों की भेंट चढ़ाना चाहता। कोई कन्या अर्पित करना चाहता। कोई दूसरी बहुमूल्य वस्तु स्वीकार करने की प्रार्थना करता। मगर आहार जैसी सामन्य वस्तु देने को कल्पना किसी को नहीं आती! भोले जोव थे उस समय के! सोचते ऐसे महान् पुरूप को आहार जैसी साधारण चीज ग्रहण करने को क्या प्रार्थना को जाय? उन्हें क्या पता था कि जीवन की दृष्टि से, हाथी-घोड़ों और हीरो-पन्नों आदि की अपेक्षा आहार बहुत मूल्यवान् है। मानव शरीर आहार से टिक सकता है, हीरों और पन्नों से नहीं।

तो जनता को ना समझी की बदौलत भगवान् को छह महीने तक आहार न मिला। जब एक वर्ष पूरा हो गया तो श्रेयांस कुमार को जाति स्मरण ज्ञान हुआ और उन्होंने ईखुरस का दान देकर भगवान् को आहार कराया। उसी समय से अक्षयतृतीय पर्व चला।

आज भी ईखुरस का नाम सुनते ही असंख्य वर्षों का पुराना वह इतिहास हमारी आँखों के आगे झूलने लगता है। वास्तव में ईखुरस भी भगवान् आदिनाथ के संपर्क से धन्य हो गया है! आज भी वर्षी तप करने वाले प्रायः ईखुरस से ही अपनी तपस्या का पारणा करते हैं।

卐

उपासक

वाला उपासक कहलाता है। उपासना का अर्थ है आराधना। धर्म की आराधना या उपासना करने वाले को धर्मोपासक कहते हैं। श्रमणों की उपासना करने वाले को श्रमणोपासक कहते हैं। जो जिसकी उपासना करता है, वह उसी का उपासक कहलाता है।

हमारे यहाँ श्रमणोपासक शब्द अति प्रचलित है। श्रमणोपासक को श्रावक भी कहते हैं। पाँच महाव्रतों का, पाँच समितियों का और तीन गुप्तियों का तथा साधु संबंधी अन्य आचार का पालन करने वाले संत श्रमण हैं और उनकी उपासना करने वाला श्रमणोपासक है।

श्रमण जिस धर्म का पालन करते हैं, उनका उपासक भी उसी धर्म का पालन करता है। परन्तु श्रमण त्यागी होते हैं और उपासक गृहस्थ होते हैं। अतएव उपासक के लिए श्रमण धर्म का पूरी तरह पालन करना शक्य नहीं है। इस कारण वह श्रमण धर्म पर श्रद्धा तो रखता है और उसका पालना करने की भावना भी रखता है, पर पालता है उस धर्म को आंशिक रूप में ही।

उपासक का गृहस्थजीवन भी बहुत पवित्र होता है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

उपासक नीति से ही धन का उपार्जन करता है, उत्तम आचार वाले की प्रशंसा करता है, पाप से डरता है, देशाचार के अनुसार वर्त्ताव करता है, किसी की बुराई या निन्दा नहीं करता, अच्छे पड़ोसियों में रहता है, सदाचारी जनों की संगति करता है, माता-पिता आदि गुरूजनों की सेवा भक्ति करता है,

आय का विचार करके तदनुसार ही व्यय करता है, मुनिजनों का उपदेश सुनता है, यथाशक्ति दान देता है, परोपकार-परायण होता है, ज्ञानवान् पुरुषों की संगति और सेवा करता है, अपनी सन्तान को सुशिक्षित और सुसंस्कारी बनाता है। दयालु और सच्चा होता है। मतलब यह है कि श्रमणोपासक नैतिक दृष्टि से आदर्श गृहस्थ होता है।

उपासक बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को शक्ति के अनुसार ग्रहण करके पालता है और प्रतिदिन छह आवश्यकों का सामायिक आदि का आचरण करता है।

भगवान् महावीर के समय के दस उपासक प्रसिद्ध हैं। उनका चरित उपासकदशांग शास्त्र में वर्णित है। उनकी धर्म पर अटल श्रद्धा थी। मनुष्य की तो बात क्या, देवता भी लाख-लाख कोशिश करके थक गये, परन्तु कामदेव जैसे उपासकों को धर्म से चलायमान न कर सके। हमें ऐसा ही उपासक बनना चाहिए।

ऊहापोह

करना; अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप से पदार्थ के स्वरूप का विचार करना।

किसी भी पदार्थ के निश्चित स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए ऊहापोह की आवश्यकता होती है। ऊहापोह किये बिना पदार्थ के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्णय नहीं होता। उदाहरण लीजिए—

मुनि आत्मा के स्वरूप का ऊहापोह करते हैं। तब वे यह विचार करते हैं कि आत्मा में क्या-क्या गुण विद्यमान हैं? अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, सुखस्वरूपी चेतना है, अनन्त अविच्छिन्न वीर्य शक्ति है, अखण्ड सत्ता है इत्यादि। तत्पश्चात् वे यह भी विचार करते हैं कि आत्मा में क्या-क्या धर्म नहीं हैं? जैसे—आत्मा में रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, जड़ का कोई धर्म नहीं है। आत्मा स्वभावतः सब प्रकार के विकारों से अतीत, निरंजन निराकार है। इस तरह आत्मा के स्वरूप का ऊहापोह करने से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

सामान्य तौर पर ऊहापोह को चिन्तन करना, मनन करना, विचार करना और तर्क-वितर्क करना भी कहा जा सकता है।

पढ़ लेना और सुन लेना सरल काम है और उस पर चिन्तन-मनन करना कठिन काम है। पढ़-सुन लेने मात्र से ज्ञान अन्तस् में रमता नहीं है। उसे अन्तस् में रमाने के लिए पढ़ने-सुनने के बाद गुनने की आवश्यकता होती है। यह गुनना ही ऊहापोह कहलाता है।

जब किसी भी वस्तु पर ऊहापोह करना हो तो चित्त को और सब वस्तुओं से हटा कर उसी एक वस्तु पर स्थिर करना चाहिए। मन की स्थिरता के अभाव में ठीक-ठीक

ऊहापोह नहीं हो सकता। मन कहीं भटक रहा हो और शरीर कहीं हो तो क्या खाक चिन्तन होगा? कुछ नहीं होगा।

आप कह सकते हैं कि चित्त को एकाग्र करना किस प्रकार संभव हो सकता? वह तो बड़ा ही चंचल है, हठीला है, एक जगह ठहरता ही नहीं है। क्षण में इधर तो क्षण में उधर भागता है, चक्कर काटता ही रहता है उसे पकड़ कर एक जगह कैसे रखा जाय?

बात सही है। मन चपल है और उसे एक जगह रोक रखना साधारण बात नहीं है। फिर भी अभ्यास के द्वारा उसको काबू में किया जा सकता है। अतएव चित्त की एकाग्रतापूर्वक तत्त्व का ऊहापोह करना ही उचित है।

किसी विशेष परिस्थिति में तड़ाक-फड़ाक निर्णय करना पड़ता है। देर करने से अवसर निकल जाता है, फिर भी इस प्रकार किया गया निर्णय खतरे से खाली नहीं होता। ऐसा करने से हानि होने की संभावना बनी रहती है। अतः जब हमारे सामने कोई महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित हो तो अच्छी तरह ऊहापोह करके ही अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। ऊहापोह के बाद किया गया निर्णय सुखकारी होता है और उसकी सफलता की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

बुद्धिमान् और विवेकशील पुरुष वे ही कहलाते हैं, जो अच्छी तरह सोचे-समझे बिना कभी कोई काम नहीं करते।

अभिप्राय यह है कि ऊहापोह करने से ही तत्त्वों का मार्मिक ज्ञान प्राप्त होता है और ऊहापोह करके किये गये कार्य से पश्चाताप नहीं करना पड़ता। अतएव ऊहापोह हमारे लिए अतीव उपयोगी है।

卐

ऋषभदेव भगवान्

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व और नवासी पक्ष जब शेष रहे थे, तब भगवान् ऋषभदेव सर्वार्थसिद्ध विमान से इस धराधाम पर अवतरित हुए। आपके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। ऋषभदेवजी के गर्भ में आने पर तीनों लोक में प्रकाश फैल गया और प्राणी मात्र को अचानक ही आनन्द का अनुभव हुआ। उसी रात्रि में माता मरुदेवी ने चौदह महान् शुभ स्वप्न देखे, जो ये थे:—(१) वृषभ (२) गज (३) केसरीसिंह (४) महालक्ष्मी (५) पुष्पमालाओं का युगल (६) पूर्ण चन्द्रमा (७) सूर्य (८) कलश (९) क्षीर सागर (१०) पद्म युक्त सरोवर (११) इन्द्रध्वजा (१२) देवविमान (१३) रत्नों की राशि और (१४) धूमहीन अग्निज्वाला। जैसे मोती से सीप और सिंह से कन्दरा शोभायमान होती है, उसी प्रकार गर्भस्थ लोकान्तर शिशु से मरुदेवी माता सुशोभित होने लगी।

नौ मास और साढ़े आठ दिन के पश्चात्, चैत कृष्णा अष्टमी के दिन, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में, ऋषभदेवजी का जन्म

तर्ज:-आंगना में खिल्ली खेलें

ऋषभ कन्हैया लाला आंगना में झमझुम खेलें,
अँखियन का तारा प्यारा आंगना में झमझुम खेलें ॥टेर॥
इन्द्र इन्द्रानी आई प्रेम भर गोदी में लेवे,
हँसे रमावे करे प्यार दिल की रलियाँ लेवे।
रतन पालनिये माता लाल ने झुलावे झूले,
करे लल्ला से अति प्यार नहीं वो दूरी मेले।
स्नान कराई माता लाल ने पहिनावे भेले,
गले मोतियन का हार मुकुट सिर ऊपर मेले।
गुरु प्रसादे "मुनि चौथमल" यूं सब से केवे,
नमन करो हर बार वो तीर्थङ्कर पहले।

ऋषभदेव जी के समय से पहले युगल-काल था। स्त्री-पुरुष का युगल (जोड़ा) एक साथ उत्पन्न होता है और एक ही साथ स्वर्गवासी होता था। परन्तु भगवान् के समय में युगल-काल नष्ट हो रहा था और नवीन-नवीन बातें प्रकट हो रही थीं। उसमें से एक नवीन घटना यह भी हुई। एक युगल किसी

ताड़ वृक्ष के नीचे बैठकर क्रीड़ा कर था। अकस्मात् एक ताड़-फल टूट कर गिरा और उसकी चोट से उस बालक-पुरुष का देहान्त हो गया। अपने ढंग की यह घटना उस समय पहली थी। बालिका एकाकिनी रह गई। एक दूसरा युगल उसे अपने साथ ले गया। उसने बालिका का पालन-पोषण किया। बालिका अत्यन्त सुन्दरी थी। ऐसी जान पड़ती जैसे स्वर्ग की रंभा मर्त्यलोक में आई हो! यथासमय वह बालिका नवयुवती हुई। उसका नाम सुनन्दा था। उसे लेकर वह युगल महाराज नाभि के पास आया। यह ऋषभ की पत्नी होगी। यह कह कर उन्होंने उस बालिका को स्वीकार कर लिया। उसके साथ तथा सुमंलगा नामक एक दूसरी कन्या के साथ ऋषभदेवजी का विवाह हुआ।

इससे पहले विवाह की प्रथा नहीं थी। सर्वप्रथम आपका ही विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ और तभी से विवाह की प्रथा चालू हुई।

ऋषभदेवजी अपनी दोनों पत्नियों के साथ रहते हुए भी संसार से उदासीन रहते थे। अनेक पूर्वभवों के वैराग्य के संस्कार उनकी आत्मा में विद्यमान थे, अतएव वे केवल भोगावली कर्मके उदय से ही गृहस्थावस्था में रहते थे। यों उनका अतःकरण भोगों से सर्वथा अलिप्त था।

सुमंगला के उदर से सर्वप्रथम भरत और ब्राह्मी का युगल उत्पन्न हुआ। सुनन्दा ने महाबली बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। तत्पश्चात् यथासमय ४६ युगल पुत्रों के रूप में ६८ पुत्र और उत्पन्न हुए। इस प्रकार १०० पुत्रों और दो पुत्रियों के परिवार से ऋषभदेवजी शोभायमान हुए। उनके सभी पुत्र विन्ध्याचल के गजराज की तरह शूरवीर थे।

इस प्रकार सुखपूर्वक समय व्यतीत हो रहा था कि काल के प्रभाव से कल्पवृक्ष प्रभाहीन होने लगे। युगल लोग नीति-मर्यादा को भंग करने लगे। उनमें कषाय की वृद्धि होने लगी। तब प्रभु ने उन्हें नवीन पद्धति से रहने की शिक्षा दी। भगवान् ने उनसे कहा जो मर्यादा को भंग करता है, उसे शिक्षा देने के लिए राजा नियुक्त किया जाता है। राजा के राज्याभिषेक आदि के संबंध में भी उन्होंने युगलियों को समझाया। तब युगलियों ने कहा इस समय आपको ही हमारा राजा बनना पड़ेगा। आपके सिवाय दूसरा कोई हमें दृष्टिगोचर नहीं होता, जो इस परिस्थिति को संभाल सके। आप ही हमारे आधार हैं, आप ही सर्वस्व हैं। आप ही हमारे रक्षक हैं आपके सिवाय हमारे लिए अन्य कोई शरण नहीं है।

ऋषभदेव जी ने कहा—आप लोग पुरुषोत्तम श्रीनाभि के पास जाइये। वे राजा बतला देंगे। उसी की आज्ञा मान कर चलना।

लोग नाभि कुलकर के पास पहुँचे। उस समय ऋषभदेवजी ही सब से बड़े ज्ञानी और योग्य पुरुष थे। पलटने वाली परिस्थिति में जनता की सहायता करने की और पथ प्रदर्शन करने की योग्यता उनके समान और किसी में नहीं थी। अतएव कुलकर नाभि ने ऋषभदेव जी को ही राजा के रूप में स्वीकार करने का परामर्श दिया। यह परामर्श सुनकर युगलगण अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने उत्साह और उमंग के साथ राज्याभिषेक किया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विनीता अर्थात् अयोध्या नगरी की रचना की, जो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ाई में थी।

इस प्रकार इस युग में सब से पहले राजा ऋषभदेव जी हुए। वे पुत्र के समान प्रजा का पालन करने लगे। उन्होंने मन्त्री, सेनापति, ग्रामरक्षक आदि नियुक्त किये। हाथियों और घोड़ों आदि की सेना बनाई। पहले के लोग गाय, बैल, ऊंट आदि पशुओं का उपयोग नहीं करते थे, भगवान् ने उनका पालना और उपयोग में लाना सिखलाया। खेती करने और भोजन पकाने की विधि समझाई।

रूखापन आ जाने के कारण वृक्षों की आपस में जो रगड़ हुई, उससे आग प्रकट हो गई। युगल लोग आग को जानते नहीं थे। उन्होंने उस आग को रत्न समझकर लेने का प्रयत्न किया तो हाथ जल गये। वे भागे-भागे ऋषभदेव जी के पास आए। सब हाल सुनकर आपने अग्नि के उपयोग की विधि समझाई। मृत्तिका के बरतन बनाने की कला भी बतलाई। इस प्रकार आपने कुम्हार, बढ़ई, चित्रकार, जुलाहे और नापित स्थापित किये। इन पाँच शिल्पों से संसार में सौ शिल्प प्रकट हुए। तात्पर्य यह है कि ऋषभदेव जी ने उस बदली हुई हालत में लोगों को एकदम नये ढंग से जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। साम, दाम, दंड और भेद की राजनीति सिखलाई। असि, मसि, कृषि, कर्म सिखलाए। पुरुषों के लिए ७२ और स्त्रियों के लिए ६४ कलाएं बतलाईं। अठारह प्रकार की लिपियां अपनी कन्या ब्राह्मी को सिखलाई। सुन्दरी को अंक विद्या सिखाई। माता-पिता पुत्र एवं पति पत्नि का सम्बन्ध समझाकर परिवार की योजना की। दूसरे की कन्या से विवाह करने की विधि बताकर समाज स्थापना की नींव डाली। साथ ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थापना करके उनके अलग-अलग कर्तव्य स्थापित किये।

थे, वहाँ समाज के सामने एक महान् आदर्श भी उपस्थित करना चाहते थे।

भगवान् को दीक्षा लेने के लिए उद्यत देखकर देवराज इन्द्र आ पहुँचे। अन्य देवगण भी यथोचित आये। चौसठ इन्द्रों ने दीक्षा का महोत्सव मनाया। उस समय भगवान् के पारिवारिक जन वियोग से व्याकुल होकर आंसू बहाने लगे। समस्त प्रजा अतिशय दुःखित हुई, क्योंकि भगवान् को सभी अपना आत्मीय ही समझते थे। भगवान् नगरी के बहिर्भाग में स्थित सिद्धार्थ उद्यान में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अशोक वृक्ष के नीचे समस्त वस्त्राभरण त्याग कर परम निर्ग्रन्थ-दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षित होने के पश्चात् भगवान् ने विनीता नगरी से विहार कर दिया। विहार का यह दृश्य अतिशय करुणाजनक था। भरत ने चरणों में मस्तक टेक कर कहा—प्रभो ! शीघ्र दर्शन दें। दूर देशान्तर में विहार न करें।

बाहुबली बोले—नाथ, आपका स्नेह हमसे नहीं छूटता। आपके बिना यह नगरी सुहाती नहीं; जैसे काटने को दौड़ती है।

ब्राह्मी और सुन्दरी ने आंखों में आंसू भर कर कहा—प्रभो ! हम दोनों ने बाल ब्रह्मचारिणी रहने का निश्चय किया है। आप लौट कर कब आयेंगे ? आपके बिना सर्वत्र सुनसान सा प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार भगवान् के समस्त परिवार और नगर के प्रजाजनों ने भगवान् के समक्ष अपने अपने मनोभाव प्रकट किये। सब ने प्रभु के चरणों में नमस्कार किया।

उस समय भगवान् की भोली माता मरुदेवी ही ऐसी थीं जिन्होंने सब को सान्त्वना देते हुए कहा—सब लोग घबरा क्यों

जो चाहिए सो ले सकता है। पर उस समय के लोगों की लालसा बढ़ी हुई नहीं थी। इस कारण कोई भी लालच में पड़ कर आवश्यकता से अधिक नहीं लेता था। इस प्रकार एक वर्ष तक भगवान् ने यथेष्ट दान करके जनता को दान देना सिखलाया।

अब भगवान् दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए। भगवान् का सांसारिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य पूर्ण हो चुका था और आगे का उत्तरदायित्व उन्होंने भरतजी को सौंप दिया था। प्रजा का जीवन स्थिर हो गया था। परन्तु मनुष्य जीवन का लक्ष्य पेट पाल लेना, संसार के प्रपंचों में फँसे रहना और अन्त में मौत का शिकार हो जाना ही नहीं है। मानव-जीवन इससे बड़े और उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है। मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मा की शान्ति के लिए भी कुछ प्रयत्न करे। शाश्वत शान्ति की खोज करे और उस मार्ग पर चले। ऐसा करने के लिए धर्म तीर्थ का अनुसरण करना अनिवार्य है। उस समय धर्मतीर्थ नहीं था। वह कार्य भी भगवान् को ही करना था। परन्तु धर्मतीर्थ की स्थापना उच्चतर तपस्या के द्वारा परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के बिना सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् तपस्या करने को उद्यत हुए।

मगर ऊपर जो कहा गया है, उसका अर्थ यह न समझा जाय कि धर्म पारलौकिक जीवन के लिए ही है। धर्म की उपयोगिता सिर्फ व्यक्ति-आत्मा के लिए ही नहीं, समाज की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए भी है। धर्म के बिना जीवन में उच्च संस्कार नहीं आते और उच्च संस्कृति के अभाव में समाज का यथेष्ट विकास नहीं होता। अतएव भगवान् ऋषभदेव मुनि के रूप में दीक्षित होकर जहां आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते

हो ? मेरा लाल किसी काम से गांव जा रहा है, लौट येगा । आना-जाना तो लगा ही रहता है। इसमें चिन्ता रने की क्या बात है ।

भद्रहृदया माताजी को भगवान् के जाने के असली मर्म । पता ही नहीं था । उन्हें कल्पना ही नहीं थी कि वे किस कार जा रहे हैं-सदा के लिए पारिवारिक नाता तोड़ रहे हैं ।

आखिर भगवान् चल दिये और अयोध्या के नर-नारी टे से वापिस लौटे ।

भगवान् के साथ चार हजार दूसरों पुरुषों ने भी दीक्षा ारण की थी । वे भगवान् के साथ ही विचरण कर रहे थे। गवान् ने मौन धारण कर लिया था । भगवान् की तपस्या व पूरी हो गई तो वे पारणा के लिए बस्ती में पधारते ही ोगों के आनन्द और हर्ष की सीमा नहीं रहती थी । झुंड के ंड नर-नारी एकत्र हो जाते और चरणों में मस्तक झुकाते । जिसके घर में भगवान् का पदार्पण हो जाता वह अपने न्य और कृतार्थ को मानने लगता । सोचता-हमारे राजा, मारे महाराजा, हमारे नाथ पधारे हैं । इन्हें क्या भेंट देनी ाहिए ?

भगवान् से पहले कोई साधु नहीं बना था । किसी ने [illegible] की थी । किसी को कल्पना ही नहीं [illegible] कि भगवान् को भोजन-पानी देना चाहिये ! जो सबके [illegible] हैं, महाराजा हैं, उन्हें भोजन-पानी जैसी तुच्छ [illegible] अपमान समझा जाता थी । अतएव यह बात किसी [illegible] नहीं थी । उस समय के लोग साधु के [illegible] अपरिचित थे । अतएव भगवान् को [illegible] भोजन-पानी देना चाहता था ।

कोई कहता-नाथ, आप पैदल विचरण कर रहे हैं। मेरे पास उत्तम हाथी है, इसे स्वीकार कीजिये। और इस पर सवारी कीजिये कोई अपना उत्तम से उत्तम घोड़ा प्रभु को भेंट देने की इच्छा करता। कोई अपनी सुन्दर कन्या देने की भावना प्रकट करता था।

भगवान् लोगों के इस भोलेपन का विचार करके चुपचाप लौट जाते थे। समभाव से भूख-प्यास को सहन करते हुए, आत्म ध्यान में तल्लीन भगवान् को विचरते-विचरते काफी समय हो गया। वे अपने आचार पर अटल थे और लोग आहार देना जानते नहीं थे। तब क्षुधा पिपासा को शान्त भाव से सहन करने के सिवाय और चारा ही क्या था?

मगर भगवान् के साथी साधुओं का धैर्य जाता रहा। उन्होंने विचार किया!-भगवान् सर्दी-गर्मी की परवाह नहीं करते कड़क आसन लगाकर बैठते हैं तो बैठे ही रह जाते हैं। न कुछ खाते हैं, न पानी पीते हैं। न किसी से बात करते हैं। इस प्रकार कैसे जीवित रहा जायेगा? भरत महाराज के पास जायें भी तो कैसे जायें? और भूखे-प्यासे रहें भी तो कब तक? इस प्रकार असह्य भूख-प्यास से पीड़ित होकर किसी ने कन्द-मूल खाना आरंभ कर, किसी ने पेट भरने का कोई दूसरा मार्ग खोज लिया। वे सब भगवान् की ही सेवा में रहते थे, उनके प्रति अखंड भक्तिभाव रखते थे, फिर भी इच्छानुसार खा-पी कर अपना जीवन-निर्वाह करने लगे। यही विकृति धीरे-धीरे नाना मतों और पंथों का कारण बन गई और उसी समय से संसार में नाना प्रकार के साधक बन गये।

❀ ❀ ❀

उस समय हस्तिनापुर के राजा, बाहुबली जी के पुत्र सोमप्रभ थे। सोमप्रभ के पुत्र का नाम श्रेयांस कुमार था।

उसी समय कुमार ने नीचे आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार किया और इक्षुरस से पारणा कराया। तभी से लोगों को यह ज्ञान हुआ कि साधु को किस प्रकार आहार दान दिया जाता है। बारह मास के पश्चात् भगवान् का पारणा वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हुआ। इसी घटना ने इस दिन को 'अक्षय तृतीया' के नाम से महापर्व बना दिया!

दीर्घकाल तक भगवान् ऋषभदेव ने इसी प्रकार कठिन तपस्या और उग्र साधना करके समस्त आत्मिक विकारों को दूर कर दिया। एक बार विचरते-विचरते आप अयोध्या के उपनगर प्रिमताल में पधारे। वहाँ शकट नामक उद्यान में वटवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन होकर विराजमान हुए। उसी समय चार घनघातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रकट किया। भगवान् की साधना सफल हो गई। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग परमात्मा के पद पर पहुँचे।

इधर मरुदेवी माता अपने लाड़ले लाल के वियोग में अत्यन्त दुखी हो रही थीं। उठते-बैठते, खाते-पीते सदैव उन्हीं का स्मरण करती रहती थीं। कभी-कभी तो 'ऋषभ, मेरा

ऋषभ' कहतीं-कहतीं मूर्छित हो जाती थीं। वह हमेशा यही चिन्ता किया करती थीं कि वह मेरा लाल न जाने कहाँ चल दिया है! ढूंढने जाऊं तो कहां जाऊं? किससे उसका समाचार पूछूं? मेरा इकलौता बेटा था, वही मुझे छोड़कर न जाने कहाँ चल दिया? गया सो फिर लौटा नहीं! समाचार तक न भेजे! मैं नहीं जानती थी कि मेरा बेटा इस प्रकार बदल जाएगा! मगर वह तो एकदम ही निर्मोह हो गया! उसे अपनी माता पर तनिक भी प्रेम नहीं रहा। हाय, मैं क्या करूं। क्या सोचती थी और क्या हो गया!

एक दिन माताजी इसी प्रकार के विचारों में डूबी अत्यन्त उदास बैठी थीं कि भरत जी उनके पास जा पहुँचे। दादीजी को चिन्तित और दुखी देखकर उन्होंने कहा दादीजी, आपके ऋषभदेवजी सरीखे पुत्र और भरत जैसे पोते हैं। इतना बड़ा विनीत परिवार है। फिर आप क्यों दुखी रहती हैं?

भरत के प्रश्न से माताजी का दुःख उमड़ पड़ा। नेत्रों में नीर आ गया। बोली आह, मेरा ऋषभ! मुझे यहीं छोड़कर चला गया। वह न जाने कहाँ भटकता होगा। यहाँ सिर पर छत्र धारण करता था, वहाँ सूर्य की धूप में तपता होगा। यहाँ गजराज पर सवारी करता था, वहाँ पांव पैदल भटकता होगा! यहाँ चँवर ढुलते थे, वहाँ मच्छर काटते होंगे! यहां उत्तम शाल-दुशाले ओढ़ता था, वहाँ उघाड़ा रह कर शीत की वेदना सहन करता होगा।

अन्त में माताजी ने कहा भरत, मेरे लिए यह असह्य है। मेरा सुख चाहते हो और मुझे प्रसन्न देखना चाहते हो तो मेरे ऋषभ की तलाश करो। उसके आने का समाचार मँगवाओ।

भरतजी ने आश्वासन देकर कहा दादीजी चिन्ता न करो। भगवान् अब जल्दी ही आने वाले हैं। अधिक देरी नहीं लगेगी। जल्दी हो तो मैं उनके आने का शुभ समाचार मँगवाता हूँ।

यह कह कर भरतजी राजसभा में आगे ही थे कि दो पुरुषों ने आकर सूचना दी तीन लोक के नाथ, जगत् के पितामह प्रभु ऋषभदेव विनीता के उपवन में पधारे हैं।

भरतजी यह सुखद संवाद सुनकर हर्षित हो ही रहे थे कि दूसरे पुरुष ने आकर उन्हें आयुधशाला में 'चक्ररत्न' के प्रकट होने का समाचार सुनाया। उसी समय उन्हें पुत्ररत्न के उत्पन्न होने की बधाई भी मिली !

तीनों बधाईयाँ मिलने पर भरत महाराज ने सर्वप्रथम धार्मिक महोत्सव मनाना उचित समझा। उसी समय उन्होंने भगवान् की सेवा में जाने के लिए सवारियाँ तैयार करने का आदेश दिया। दादीजी के पास जाकर भगवान के पदार्पण का समाचार कहा। इस समाचार को पाकर मरुदेवी माता को असीम प्रसन्नता हुई। वह भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त व्यग्र थीं ही; चटपट तैयार हो गई। भरत महाराज अपने विराट परिवार के साथ भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। नगरी के निवासी भी अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति से साथ वहाँ पहुँचे।

माता मरुदेवी अपने अतिशय लाड़ले लाल को देख कर वात्सल्य भाव से विह्वल हो उठीं। भगवान् को देख-देखकर उनके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि उनका लाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करके पूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त कर चुका है। वे भगवान् ऋषभदेव को भगवान् के रूप में नहीं, अपने प्यारे बेटें के रूप में ही देख रही थीं। अतएव

उन्होंने कहा—बेटा, जरा इस ओर देख, तेरी माता आ गई है। तेरे बिना मुझे सारा संसार निस्सार जान पड़ता है। तू इतने दिन कहां-कहां भटकता रहा ? न अपने कुशल समाचार दिये और न मेरे समाचार मंगवाये ! मेरी आंखों के तारे ! अब तक तूने कहां खाया-पीया ? कहां सोया-बैठा ? मैं तेरा स्मरण करते-करते परेशान हो गई।

माता के इस प्रकार कहने पर भी जब भगवान् ऋषभदेव मौन ही रहे तो माताजी की विचारधारा दूसरी दिशा में मुड़ गई। सोचने लगी मैं तो इतना प्यार प्रकट कर रही हूँ, इसके लिए तड़फ रही हूँ, प्रेम के दो बोल सुनने के लिए अधीर हो रही हूँ, परन्तु यह तो आंख उठा कर भी मेरी ओर नहीं देखता। इतने दिनों में एकदम बदल गया- वैरागी हो गया। मानो, हमारे साथ इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मैं इसकी कुछ नहीं हूँ।

मरुदेवी माता की विचार धारा अस्खलित गति से अग्रसर होती ही गई—अब मैं समझ गई। संसार झूठा है। संसार के सब नेह के नाते झूठे हैं। वास्तव में यहां कोई किसी का नहीं है। सब अकेले जन्म लेते हैं और मरते हैं। मेरे मोह को धिक्कार है। यह मोह ही दुःख का कारण है।

इस प्रकार वैराग्यमय विचारों की धारा जब और आगे बढ़ी तो वह शुक्ल ध्यान के रूप में परिणित हो गई। वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो कर दसवें गुणस्थान की स्थिति पर पहुंची। उनका मोह कर्म सर्वथा नष्ट हो गया और अन्तर्मुहूर्त्त में ही शेष तीन घातिया कर्म भी क्षीण हो गये। उसी समय चारों अघातिया कर्मों ने भी एक साथ छुट्टी ली और वे अजर-

तीनों बधाइयां मिलने पर भरत महाराज ने सर्वप्रथम धार्मिक महोत्सव मनाना उचित समझा। उसी समय उन्होंने भगवान् की सेवा में जाने के लिए सवारियां तैयार करने का आदेश दिया। दादीजी के पास जाकर भगवान के पदार्पण का समाचार कहा। इस समाचार को पाकर मरुदेवी माता को असीम प्रसन्नता हुई। वह भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त व्यग्र थीं ही; चटपट तैयार हो गईं। भरत महाराज अपने विराट परिवार के साथ भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। नगरी के निवासी भी अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ वहाँ पहुँचे।

माता मरुदेवी अपने अतिशय लाड़ले लाल को देख कर वात्सल्य भाव से विह्वल हो उठीं। भगवान् को देख-देखकर उनके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि उनका लाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करके पूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त कर चुका है। वे भगवान् ऋषभदेव को भगवान् के रूप में नहीं, अपने प्यारे बेटे के रूप में ही देख रही थीं। अतएव

उन्होंने कहा—बेटा, जरा इस ओर देख, तेरी माता आ गई है। तेरे बिना मुझे सारा संसार निस्सार जान पड़ता है। तू इतने दिन कहां-कहां भटकता रहा ? न अपने कुशल समाचार दिये और न मेरे समाचार मंगवाये ! मेरी आंखों के तारे ! अब तक तूने कहां खाया-पीया ? कहां सोया-बैठा ? मैं तेरा स्मरण करते-करते परेशान हो गई।

माता के इस प्रकार कहने पर भी जब भगवान् ऋषभदेव मौन ही रहे तो माताजी की विचारधारा दूसरी दिशा में मुड़ गई। सोचने लगी मैं तो इतना प्यार प्रकट कर रही हूँ, इसके लिए तड़फ रही हूँ, प्रेम के दो बोल सुनने के लिए अधीर हो रही हूँ, परन्तु यह तो आंख उठा कर भी मेरी ओर नहीं देखता। इतने दिनों में एकदम बदल गया- वैरागी हो गया। मानो, हमारे साथ इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मैं इसकी कुछ नहीं हूँ।

मरुदेवी माता की विचार धारा अस्खलित गति से अग्रसर होती ही गई—अब मैं समझ गई। संसार झूठा है। संसार के सब नेह के नाते झूठे हैं। वास्तव में यहां कोई किसी का नहीं है। सब अकेले जन्म लेते हैं और मरते हैं। मेरे मोह को धिक्कार है। यह मोह ही दुःख का कारण है।

इस प्रकार वैराग्यमय विचारों की धारा जब और आगे बढ़ी तो वह शुक्ल ध्यान के रूप में परिणित हो गई। वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो कर दसवें गुणस्थान की स्थिति पर पहुंची। उनका मोह कर्म सर्वथा नष्ट हो गया और अन्तर्मुहूर्त्त में ही शेष तीन घातिया कर्म भी क्षीण हो गये। उसी समय चारों अघातिया कर्मों ने भी एक साथ छुट्टी ली और वे अजर-

अमर पद को प्राप्त हुई। इस काल में मरुदेवी माता ने ही सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त की।

तत्पश्चात् पहली बार भगवान् ऋषभदेव ने समवसरण में विराजमान होकर देवों तथा मनुष्यों आदि के विराट समूह को धर्मदेशना दी। इसी काल में इसी समय धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हुई। भगवान् आदिनाथ ही प्रथम नृप, प्रथम मुनि, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थंकर थे। इन्हीं महापुरुष की परम्पराएँ आज भी चल रही हैं।

भगवान् आदिदेव की देशना श्रवण कर महाराज भरत के पांच सौ पुत्रों ने तथा सात सौ पौत्रों ने उसी समय विरक्त होकर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। कुमारी ब्राह्मी ने भी साध्वीव्रत अंगीकार कर लिए। भगवान् के ऋषभसेन आदि चौरासी गणधर हुए। इस प्रकार विधिवत् तीर्थ की स्थापना हो गई। भगवान् ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरण करके धर्मोपदेश देकर तत्कालीन मनुष्यों को नूतन चेतना प्रदान करने लगे। दीक्षा से लेकर एक लाख पूर्व तक भगवान् इस पृथ्वीतल को पावन करते रहे।

आखिर अपना अन्तिम समय सन्निकट आया जानकर भगवान् अष्टापद पर्वत पर आरूढ़ हुए। वहां पादपोपगमन संथारा करके अन्तिम समाधि में लीन हो गये। यह संवाद जब महाराज भरत को मिला तो उनके दुःख का पार न रहा। नेत्रों से नीर की धारा बहने लगी। वे अपने अन्तःपुर के साथ पैदल ही अष्टापद की ओर चल पड़े। वहां जाकर उन्होंने भगवान् को परम समाधी में लीन देखा। वे हतबुद्धि की तरह वहीं बैठ गये। थोड़ी देर पश्चात् भगवान ने मन, वचन, काय के योगों का सर्वथा निरोध करके शुक्लध्यान के चौथे चरण में प्रवेश

खींचता है। उन्होंने खेल की परवाह नहीं की। गौतम स्वामी के समीप आकर मधुर स्वर में कहा—भगवन्, आप कौन हैं? किस प्रयोजन से घूम रहे हैं?

एवन्ता कुमार जैसे छोटे बालक का, भोलेपन से भरा, यह प्रश्न सुन कर न जाने उन्हें किस दृष्टि से देखा होगा!

मगर एवन्ता कुमार के प्रश्न के उत्तर में भगवान् गौतम ने कहा—वत्स, हम निर्ग्रन्थ श्रमण हैं। हम सचित्त आहार नहीं लेते। अपने निमित्त बनाया गया आहार नहीं लेते। अपने लिए खरीद कर दिया जाने वाला आहार भी नहीं लेते। किसी भी प्रकार का दूषित आहार हम नहीं लेते। हम स्वयं भोजन नहीं बनाते। जब आहार की आवश्यकता होती है तो भिक्षा करते हैं। कई घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते हैं।

एवन्ता कुमार आखिर बालक ही तो ठहरे! उन्होंने कहा—आप बड़े तेजस्वी हैं। भाग्यवान् दिखाई देते हैं। आपके तेज के सामने देवों का तेज भी फीका नजर आता है। फिर भी आपको भिक्षा मांगनी पड़ती है? और वह भी घर-घर से! भगवन्, मेरे घर चलो। मैं आपको भिक्षा दूंगा।

इतना कह कर गौतम स्वामी के उत्तर की प्रतीक्षा न करके कुमार ने उनकी उंगली पकड़ ली।

गौतम स्वामी को एवन्ता कुमार द्वारा पकड़ी हुई उंगली छुड़ानी चाहिए थी या नहीं? उंगली न छुड़ाने पर कदाचित् आज कल लोग निन्दा करने लगते कि—भला यह भी साधु की कोई रीति है? मगर गौतम स्वामी इस तरह डरने वाले साधु नहीं थे। उस समय के श्रावक भी आज कल के श्रावकों से

भिन्न प्रकार के थे। एवन्ता कुमार की वीरता, धीरता और साहस देखकर गौतम स्वामी उनसे अपनी उंगली नहीं छुड़ा सके। कहावत है:—

होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

उस होनहार बालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुड़ा सके। गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ता कुमार भिक्षा देने के लिए अपने घर की ओर ले चले। गौतम स्वामी बालक की भावुकता पर मुग्ध थे और उसकी अवज्ञा नहीं कर सके। वे बालक के साथ साथ खिंचे चले गये। किसी ने ठीक ही कहा है—

भक्त के वश में हैं भगवान्।

एवन्ता कुमार की माता श्रीदेवी अपने बच्चे की प्रतीक्षा कर रही थी। भोजन का समय हो जाने पर भी एवन्ता कुमार अब तक नहीं पहुंचे थे। वह सोच रही थीं—न जाने एवन्ता कौन-से खेल में लग गया कि भोजन की सुधि भी भूल गया।

आखिर एवन्ता कुमार गौतम स्वामी का हाथ पकड़े आया। उसे देखकर श्रीदेवी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—लाल, कब से तेरी राह देख रही हूं। लेकिन तू अतिशय भाग्यवान् है जो खेल छोड़ कर इस तरन-तारन जहाज को ले आया! बड़े पुण्य के उदय से ऐसे महात्मा के दर्शन होते हैं। इनके चरण-कमलों से घर पावन हो जाता है। भाग्यशाली मनुष्य ही इनका सुयोग पा सकते हैं। आज तेरा खेलना भी सार्थक हो गया। खेलने न जाता तो यह भव-सागर का जहाज कहां मिलता? आज का दिन धन्य है कि इन तपस्वी महात्मा के चरण इस घर में पड़ गये।

[illegible]
[illegible]
सर्दी-गर्मी के [illegible]
[illegible]
के लिए संयम के कष्टों को सहन कर लेना तो [illegible]
है। अतएव हमारी बात मानो। [illegible] फिर आप
बन कर [illegible]।

एवन्ता कुमार की आत्मा में अलौकिक प्रकाश जगमगा उठा था। उसकी बुद्धि बहुत निर्मल और विचार शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता-पिता से कहा—आपने मुझे राजा का पद प्रदान किया है, परन्तु मुनि का पद क्या छोटा है? अगर आप मुनि का पद राजा के पद से बड़ा समझते हैं तो उस पद को छुड़ाने के लिए राजा के पद का प्रलोभन क्यों दे रहे हैं? हाथ जोड़ेगा तो राजा ही मुनि के सामने हाथ जोड़ेगा मुनि किसी राजाधिराज को भी हाथ नहीं जोड़ता। औरों की बात जाने दीजिए, चक्रवर्ती और देवों का राजा इन्द्र भी मुनि के चरणों में मस्तक नमाते हैं।

माता-पिता को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब हमारा कोई प्रयत्न कारगर नहीं हो सकता। बालक एवन्ता कोई प्रलोभन संयमी बनने से नहीं रोक सकता। अतएव उन्होंने दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। वे कुमार को भगवान् के पास ले गये और बोले—भगवन्, एवन्ता कुमार को अब गृहस्थी में रखना असंभव है। यह आपके चरणों की शरण ग्रहण करना चाहता है। इसे भव-सागर से पार उतारिए।

भगवान् सर्वज्ञ थे। भूत और भविष्य के ज्ञाता थे। सभी भाव उनके निर्मल ज्ञान में स्पष्ट रूप से झलकते थे। उन्होंने

एवन्ता के भविष्य को जान लिया था। वह चरम शरीरी है—इसी भव से निर्वाण प्राप्त करेंगे, यह उन्हें मालूम था। अत एव भगवान् ने एवंता कुमार को दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया।

मुनि बनकर एवन्ता कुमार ज्ञान-ध्यान सीखने लगे। यद्यपि उनकी आत्मा बहुत उज्ज्वल थी, फिर भी आखिर तो बचपन ही ठहरा। एक दिन वे शौच के लिए दूसरे मुनियों के साथ जंगल गये। साथ के मुनि अलग-अलग हो गये और एवन्ता मुनि अकेले रह गए। उनके पास से एक छोटा सा नाला बह रहा था। उसमें पानी गहरा नहीं, छिछला था। उसे देखकर बाल-मुनि के मन में एक तरंग उठी। उन्होंने बहते पानी को रोकने के लिए आसपास की मिट्टी और रेत इकट्ठी करके पाल बांध दी। पाल बंधने से पानी रुक गया और कुछ गहरा हो गया। उसमें उन्होंने अपना छोटा पात्र डाला और उसे तैराने लगे। थोड़ी देर बाद जब साथ के मुनि आये तो उन्हें जल में पात्र तैराते देखकर नाराज हुए। बोले—तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि मुनि सचित्त जल का स्पर्श नहीं करते! बचपन और मुनिपन दोनों साथ-साथ कैसे निभ सकते हैं?

आखिर एवन्ता कुमार के इस कार्य की सूचना भगवान् को दी। भगवान् ने शान्त और गंभीर स्वर में कहा—एवन्ता मुनि चरम शरीरी हैं। कोई इनकी अवहेलना न करो। इन्होंने पानी में पात्र क्या तैराया है, संसार-सागर से अपनी आत्मा को पार कर लिया है।

भगवान् की वाणी अन्यथा कैसे हो सकती थी? बड़े होकर इन मुनिराज ने प्रबल तपस्या और उग्र संयम का

ऐरावत

जैसे मनुष्य-जाति में, प्राचीन काल में, चार प्रकार की सेना होती थी, उसी प्रकार देवलोक में भी चार प्रकार की सेना होती है। अन्तर है तो यही कि यहाँ हाथी, घोड़े आदि तिर्यंचगति के जीव हैं, रथ अजीव होता है। और मनुष्य (पैदल सैनिक) तो मनुष्य है ही! किन्तु देवलोक में देवगण ही हाथी-घोड़ा आदि का रूप धारण करके सेना रूप बन जाते हैं।

ऐरावत इसी प्रकार का एक हाथी है। इन्द्र महाराज की चतुर्विध सेना में जो गजसेना है, ऐरावत उस सेना का अधिपति माना जाता है। इसी लिए उसे हस्ती-राजा कहते हैं। स्थानांगसूत्र में कहा है :—

एरावणे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवई।

अर्थात् गजराज ऐरावत कुंजरसेना का अधिपति है।

हाथियों में कई जातियाँ होती है। उन सब में ऐरावत हाथी सब में श्रेष्ठ माना गया है। कहा भी है :—

हत्थीसु एरावणमाहुणायं।

भगवान् महावीर की स्तुति-प्रसंग में कहा है कि जैसे समस्त हाथियों में ऐरावत उत्तम है, उसी प्रकार भगवान् सब महापुरुषों में उत्तम हैं।

इंद्र महाराज जब तीर्थंकर भगवान् के जन्मोत्सव को मनाने के लिए आते हैं तो ऐरावत पर सवार होकर आते हैं और भगवान् को उसी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर अभिषेक के लिए ले जाते हैं। जैन कवि रूपचंदजी ने ऐरावत हाथी का, जिनदेव के जन्मोत्सव के समय का वर्णन करते हुए लिखा है :—

जोजन लाख गयंद वदन सौ निरमये,
वदन वदन वसु दंत, दंत सर संठये।
सर सर सौ पनवीस कमलिनी छाजहीं,
कमलिनि कमलिनि कमल पचीस विराजहीं।

राजहीं कमलिनि कमल अठोतर सौ मनोहर दल बने,
दल दलहिं अपछर नटहिं नवरस हावभाव सुहावने।
मणि कनक-किंकणि वर विचित्र सु अमरमंडप सोहये,
घन घंट चमर ध्वजा पताका, देखि त्रिभुवन मोहये॥

जिन-जन्माभिषेक के अवसर पर जिस ऐरावत पर आरूढ़ होकर इन्द्र आते हैं, उसका शरीर एक लाख योजन का होता है। उसके सौ मुख होते हैं। प्रत्येक मुख के अगल-बगल में आठ-आठ दांत होते हैं। ये दांत भी एक लाख योजन शरीर-परिमाण के अनुसार बहुत विशाल होते हैं। इतने विशाल कि उन पर सरोवर बने रहते हैं। प्रत्येक सरोवर में सवा सौ-सवा सौ कमलिनियां होती हैं। प्रत्येक कमलिनी में पच्चीस-पच्चीस कमल होते हैं। प्रत्येक कमल में एक सौ आठ पत्ते होते हैं। उन

सब पत्तों पर अप्सराएँ नवरसमय और विविध प्रकार के हाव-भाव दिखलाती हुई मनोहर नृत्य करती हैं। हाथी मणिजटित स्वर्ण के आभूषणों से सुशोभित होता है। घंटा, ध्वजा, पताका और चँवर आदि से सुसज्जित होता है। उसे देखकर तीनों लोकों के प्राणियों का मन मुग्ध हो जाता है।

ऐरावत के इस वर्णन में असंभव जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि विक्रिया लब्धि के द्वारा इस प्रकार की रचना की जा सकती है।

धन्य है वह गजराज जिसे अपने ऊपर भगवान् को आरूढ़ करने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

卐

ओं (ॐ)

समस्त आर्य जाति में ॐ शब्द की महत्ता स्वीकार की गई है। वैदिक धर्म की किसी भी शाखा को ले लीजिए, चाहे जैन धर्म की दृष्टि से देखिए, ॐ एक अत्यन्त ही पवित्र शब्द माना गया है। इस ॐकार में विभिन्न मतों के अनुसार उनके इष्ट देवों का समावेश हो जाता है।

वैदिक धर्म के अनुसार ॐ में ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों प्रधान देवों का समावेश इस प्रकार होता है—ब्रह्मा का वाचक 'अ', विष्णु का वाचक 'उ' और महादेव का वाचक 'म्' इन तीनों अक्षरों को मिलाने से 'ओं' बनता है, और 'म्' की जगह अनुस्वार होता है।

जैन धर्म के अनुसार 'ओं' में पांचों परमेष्ठियों का—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का समावेष

होता है। वह इस प्रकार अरिहन्त का 'अ' अशरीर (सिद्ध) का 'अ' और आचार्य का 'आ' ये तीनों मिल कर 'आ' बनते हैं। उनमें उपाध्याय का पहला अक्षर 'उ' मिलाने से 'ओ' होता है और फिर मुनि का आद्य अक्षर 'म्' मिला देने से 'ओं' रूप बन जाता है।

इस कथन से सहज ही समझा जा सकता है कि भारत-वर्ष में ॐ का महत्त्व कितना अधिक है! वास्तव में यह एक अत्यन्त पवित्र शब्द है।

विभिन्न आराध्य देवों का समावेश होने के कारण ॐ एकाक्षरी पवित्र मन्त्र भी माना गया है। योगी जन इस मंत्र का ध्यान करके अपने आपको कृतार्थ बनाते हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य अपने योगशास्त्र में ॐ का ध्यान करने की विधि बतलाते हुए कहते हैं:—

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वरव्यंजनसंवीतं, वाचकं परमेष्ठिनः।
मूर्द्ध संस्थितशीतांशुकलामृतरसप्लुतम्।
कुम्भकेन महामंत्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत्॥

—योगशास्त्र, ८, ३०-३१

अर्थात्—हृदय रूपी कमल में स्थित, समग्र शब्दब्रह्म की उत्पत्ति के स्थान, स्वर और व्यंजन से युक्त, पंच परमेष्ठी के वाचक, तथा मस्तक में चन्द्रमा की कलाओं से झरने वाले अमृत-रस से भींगते हुए महामंत्र प्रणव अर्थात् ॐकार का श्वासोच्छ्वास को रोक कर चिन्तन करना चाहिए।

यही नहीं, योगशास्त्र में यह भी कहा है:—

पीतं स्तंभेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम्
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम्॥

अर्थात्—स्तंभन करने में पीले वर्ण के ॐकार का, वशी-

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदञ्चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

अर्थात्—योगी जन नित्य ही अपने अन्तःकरण में बिन्दु सहित ॐकार का ध्यान करते हैं। यह ॐकार समस्त कामनाओं की सिद्धि करने वाला है और मुक्ति भी देने वाला है। अर्थात् इसका ध्यान करने से लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। ऐसे परम पावन ॐकार को मेरा बार-बार नमस्कार हो !

योगशास्त्र में ध्यान करने के लिए जो अनेक पवित्र मंत्र बतलाये गये हैं, उन सब में ॐकार ही सब से छोटा मंत्र है। अतएव साधक जनों का कर्त्तव्य है कि वे इसका ध्यान करके शुद्धि प्राप्त करें।

कई विद्वानों की मान्यता है कि 'ॐ' अक्षर का भारतवर्ष से बाहर भी अनेक देशों में प्रचार हुआ है, पर उसके रूप बदल गये हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ॐकार की महिमा बहुत अधिक है और उसका चिन्तन करने से अनेक भला होते हैं।

卐

औरत

ध्यान से चित्र की ओर देखिये। आपको इस चित्र में एक औरत दिखाई देगी। उसके मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है। वह दोनों हाथ जोड़ कर भगवान् जिनेन्द्र की प्रार्थना कर रही है। उसके नीचे आसन बिछा है और सामने रेत-घड़ी रक्खी है यह सब देखने से मालूम होता है कि वह सामयिक कर रही है।

प्राचीन काल में घड़ियों का ज्यादा प्रचार नहीं था। आजकल घड़ियों का बहुत प्रचार हो गया है, फिर भी अनेक वृद्ध औरतें ऐसी हैं जो घड़ी देखना नहीं जानतीं। उनके लिए यह घड़ी बड़ी उपयोगी है। इससे वे सामयिक पूर्ण होने का समय आ गया है या नहीं, यह बात अत्यन्त सरलता से समझ लेती हैं।

सामयिक का समय ४८ मिनिट का आचार्यों ने निर्धारित किया है। इसी समय के अनुसार सामयिक करनी चाहिए।

जिस क्रिया से समभाव की प्राप्ति हो, अर्थात् अन्तरंग में जलने वाली कषायों की आग शान्त हो और चित्त में प्रशम भाव एवं निराकुलता उत्पन्न हो, उसे सामायिक कहते हैं। कषाय ही समस्त दुःखों की जड़ है। जितने अंश में उसकी कमी होती है, उतने ही अंश में आत्मिक शान्ति बढ़ती है। कषायों का नाश करने का सर्वोत्तम मार्ग समभाव को जगाना है। अतएव प्रत्येक विचारशील नर-नारी को प्रतिदिन सामायिक अवश्य करनी चाहिए।

卐

[illegible] 'अंजना' नाम सार्थक ही था।

विवाह के योग्य उम्र होने पर राजकुमार पवन के साथ अंजना की सगाई हो गई। तब कुमार पवन ने विचार किया जिस के साथ सारा जीवन बिताना है, जिसे अपना सदा का साथी बनाना है, उसे एक बार देख तो लेना चाहिए। उसने अपना विचार अपने मित्र प्रहस्त को बतलाया। प्रहस्त ने कहा— अंजना कुमारी की प्रशंसा सर्वत्र सुनाई देती है, फिर भी देख लेने में क्या हानि है।

पवन कुमार विद्याधर थे। उनके पास आकाशगामी विमान था। उस पर सवार होकर दोनों एक दिन महेन्द्रपुर आ पहुँचे। वहां वे एक बगीचे में गये थे कि संयोगवश अंजना भी अपनी सखियों के साथ वहीं जा पहुंची। अंजना की सखियों ने उसकी सगाई की चर्चा छेड़ दी। एक ने पवन कुमार की प्रशंसा करते हुए उनके साथ सगाई होने के उपलक्ष में बधाई दी। दूसरी सखी कहने लगी—पवन कुमार से तो विद्युत्पर्व ही अच्छा था। पवन कुमार उसकी बराबरी नहीं कर सकते।

तीसरी सखी—विद्युत्पर्व अल्पायु है। उसके साथ हमारी सखी का विवाह कैसे हो सकता है?

दूसरी—धनवान् होकर भी यह मोक्षगामी है। मोक्ष-गामी की प्रिया होना क्या कम सौभाग्य की बात है?

अंजना अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में विचार कर रही थी। उसने सखियों के वार्तालाप में न कोई भाग लिया और न उस पर ध्यान दिया।

पवन कुमार ने यह सब बातचीत सुन ली। पर पुरुष की प्रशंसा और जिसके साथ सगाई हो चुकी है, उसकी निन्दा सुन कर भी अंजना चुप रही, उसने प्रतिवाद नहीं किया, इस विचार से पवन कुमार उत्तेजित हो उठा। वह आपे से बाहर होना चाहता था कि प्रहस्त ने समझा-बुझाकर उसे शान्त कर दिया। फिर भी पवन ने निश्चय कर लिया कि विवाह हो जाने के बाद जब अंजना मेरी हो जायगी, तब इससे भरपूर बदला लूंगा।

× × × ×

विवाह के पश्चात् अंजना पति के घर आई उसके श्वसुर राजा प्रह्लाद ने अंजना के लिए अलग महल बनवा दिया था। अंजना उसी में उतरी, पर पवन कुमार ने उस महल में पैर भी न रखा। दिन पर दिन और मास पर मास व्यतीत होने लगे, अंजना यह भी न समझ सकी कि पति की अप्रसन्नता का क्या कारण है? उसने खूब सोच-विचार किया, पर कोई अपराध दिखाई न दिया। आखिर उसने यही निश्चय किया मैंने पहले जन्म में कोई अपराध किया होगा, उसी का फल भुगतना पड़ रहा है। यह सोच कर अंजना अपने पति के प्रति तनिक भी दुर्भाव न रखती हुई धैर्य और शान्ति के साथ काल यापन करने लगी।

अंजना कहती, [illegible] मैं पति के [illegible] की कल्पना भी नहीं कर सकती। [illegible] तो [illegible] है। मैं अपने ही किसी कर्म का फल भोग रही हूँ। दूसरे को दोष देना वृथा है।

अंजना के महल में एक ऐसी खिड़की थी, जिसके द्वारा पवन कुमार के महल की खिड़की में से उन्हें देखा जा सकता था। अंजना प्रतिदिन उसी खिड़की से पति के दर्शन कर लेती थी। एक दिन पवन को यह बात मालूम हुई तो उसने वह खिड़की भी बंद करवा दी! इस पर भी अंजना ने अपना धैर्य नहीं गँवाया और न अन्तःकरण में कोई दुर्भाव उत्पन्न होने दिया।

एक बार राजकुमार पवन एक युद्ध में जाने को तैयार हुए। वसन्त माला ने यह समाचार अंजना को सुनाया और इस अवसर पर उन्हें एक पत्र लिख भेजने का भी आग्रह किया। अंजना ने कहा—पतिदेव मेरे अन्तःकरण में विद्यमान हैं। अगर साक्षात् मिलन नहीं होता तो भी क्या हानि है? मेरे पापकर्म का अन्त जब आएगा तो सब ठीक हो जायगा फिर भी जब वसन्तमाला न मानी तो अंजना ने पवन को एक पत्र लिखा। उस पत्र का आशय यह था कि आप पिताजी पर आपड़े

वोझ को अपने कंधों पर लेकर युद्ध करने जा रहे हैं, यह उचित ही है। मेरे लिए भी यह गौरव की बात है। मैं आपके चरणों में शतशः प्रणाम करती हूँ और आपकी विजय की कामना करती हूँ। आप मुझे भूल न जाएं, वस यही प्रार्थना है।

अंजना से सरल भाव से यह पत्र लिखा और वसन्त माला ने जाकर उसे कुमार के हाथों में थमा दिया उन्होंने उसे खोला और ज्यों ही अंजना का नाम दिखाई दिया त्यों ही उसे विना पढ़े फाड़कर फेंक दिया। उसने लाल पीली आँखें करके कहा—मैं जिसका नाम भी नहीं सुनना चाहता, उसका पत्र इस समय लाने की क्या आवश्यकता थी?

अंजना के पत्र की यह अवहेलना अंजना की ही घोर अवहेलना थी। वसन्तमाला रोती-रोती अंजना के पास पहुँची। उसने सव हाल कह कर कुमार के विरुद्ध भी कुछ बातें कहीं। सव कुछ सुनकर अंजना के हृदय को गहरा धक्का तो अवश्य लगा, मगर वह शांत ही रही। उसने कहा मैं लिखना ही नहीं चाहती थी, पर तू मानी नहीं। मगर यह तो विदित हो गया कि राजकुमार सत्यप्रिय हैं। कपटी नहीं हैं जो भीतर वही वाहर है। यह कम आनन्द की बात नहीं।

इधर अंजना वसन्तमाला को समझा-बुझा रही थी, उधर पवनकुमार के युद्ध प्रस्थान की घोषणा करने वाले बाजे वजने लगे। अंजना ने बाजों का निर्घोष सुनकर कहा—राजकुमार प्रस्थान कर रहे हैं, इस समय उनके दर्शन कर लेने चाहिए और शुभ शकुन भी वताना चाहिए। वसन्तमाला पत्र से क्षुब्ध थी। जानती थी कि राजकुमार के हृदय में अंजना के लिए तिल भर भी स्थान नहीं है। अतएव उसने अंजना को चुपचाप वैठी रहने का परामर्श दिया। मगर सती का पवित्र हृदय न

माना। युद्ध के लिए प्रयाण करते पति के दर्शन करने की उत्कंठा को वह रोक न सकी। उन के लिये मंगल-आचरण किये बिना उससे न रहा गया। अतएव वह शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र धारण करके और हाथ में दही का कटोरा लेकर ऐसी जगह खड़ी होगई जहां से पवनकुमार निकलने वाले थे।

पवनकुमार उसी रास्ते से चले। जब वह निकट आये और उन्होंने देखा कि यह अंजना है तो उनके क्रोध का पार न रहा। क्रोश के आवेश में विवेकवान् पुरुष भी विवेकहीन हो जाता है। वह अधम से अधम काम भी कर गुज़रता है। पवनकुमार ने दही के कटोरे के एक लात लगाई। दही ज़मीन पर जा गिरा। इस प्रकार सती अंजना का तिरस्कार करके राजकुमार आगे बढ़ गये।

तिरस्कृत अंजना भावनाओं के तूफान में उड़ती-उड़ती अपने महल में आई। उसने वसन्तमाला से कहा—बहिन, मेरे पाप-कर्म बड़े प्रबल हैं। मैं किसी उपाय से पतिदेव को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। अब एक नया उपाय करना चाहती हूँ। अनशन व्रत धारण करके मैं अपनी आत्मा को शुद्धि करने का विचार कर रही हूँ।

वसन्तमाला—सखी, युद्ध के लिए जाते समय तो शत्रु के साथ जो अच्छा व्यवहार किया जाता है। तुम शकुन बताने गई और उन्होंने अपमान किया। मेरी समझ में राजकुमार ने अपना ही अपशकुन किया है।

अंजना—सखी, पति के अहित की बात न कहु। मेरा [illegible] सदा उनका हित चाहता है। उन्होंने जो अपमान किया, वह मेरा नहीं, कर्म का अपमान है। दुष्कर्म का अन्त [illegible] से ही हो सकता है, दूसरे का अहित चाहो

से नहीं। मेरी तो यही कामना है कि पतिदेव विजयी हों, उनका कल्याण हो और मेरा दिखाया शुभ शकुन सफल हो। इस प्रकार कह कर सती अंजना ने तपस्या अंगीकार करने का विचार कर लिया।

卐 卐 卐 卐

इधर सती अंजना जब पति के हित का चिन्तन कर रही थी, तब उधर राजकुमार पवन मानसरोवर पर पड़ाव डालकर अपने तम्बू में सो रहे थे। अचानक एक चकवी का का करुण विलाप उनके कानों में पड़ा और निद्रा भंग हो गई। राजकुमार पवन सोचने लगे—मैं समझता था कि स्त्री-जाति में निष्ठुरता ही होती है, परन्तु देखता हूं, पक्षियों की स्त्रीजाति में भी पुरुष के प्रति ऐसा ज्वलंत प्रेम है तो फिर विवेकशील मानव समाज की स्त्रीजाति में कितना प्रेम न होगा !

कुमार ने उसी समय अपने मित्र प्रहस्त को बुला कर कहा—मित्र, अचानक मेरी नींद उचट गई है। आज हृदय में कुछ नये से विचार उत्पन्न हो रहे हैं।

प्रहस्त—वास्तव में आपने बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। नींद आये तो कैसे ?

कुमार—क्या अनुचित किया है मैंने ?

प्रहस्त—सती अंजना आपको शकुन बताने आई और आपने सबके सामने उसका घोर अपमान किया !

पवन—तुम नहीं जानते, स्त्रियां कितनी क्रूर होती हैं !

प्रहस्त—जी हाँ, और पुरुष अत्यन्त दयालु ! तभी तो अंजना जैसी पतिव्रता पर आपकी अपार करुणा है ! वह चाहती तो अपने पिता के घर जा सकती थी, पर आपके प्रति प्रेम होने से ही बेचारी को लांछना भोगनी पड़ी है।

पवन—तुम भूल गये प्रहस्त, अंजना ने मेरी निन्दा सुन-कर भी मौन साध रक्खा था !

प्रहस्त—इतनी-सी साधारण घटना को आपने क्यों इतना तूल दे रक्खा है ? अंजना धर्म को पहचानती है। विद्युत्पर्व के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह अठारह वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर छब्बीस वर्ष में मुक्ति लाभ करेंगे। ऐसी स्थिति में एक चरमशरीरी की प्रशंसा के विरोध में वह क्या कह सकती थी ? वह आपको न चाहती होती तो आपके यहाँ रह कर क्यों इतना अपमान, तिरस्कार और मानसिक कष्ट भोगती ? आपको अंजना के विषय में जो भ्रम है, वह सर्वथा निराधार है। वह पतिव्रता सती है।

प्रहस्त की बातों से पवन कुमार का भ्रम दूर हो गया। हृदय की कठोरता कोमलता के रूप में परिणित हो गई। वह सोचने लगे—यदि अंजना के अन्तःकरण मेरे प्रति प्रेम होगा तो वह भी इस चकवी की तरह बिलख रही होगी। अभी तक वह भावी सुख की आशा पर जीवित रही है, परन्तु आते समय मैंने उसका जो तिरस्कार कर दिया है, उसके बाद वह किस आशा पर जीवित रह सकेगी ? लौट कर जाऊँ और उसे सान्त्वना दे आऊँ ? परन्तु पिताजी और दूसरे लोग क्या कहेंगे ? युद्ध में जाते-जाते औरत के मोह में पड़ गया ! नहीं जाता हूं तो संभव है, अंजना प्राण खो बैठे।

आखिर पवन कुमार ने अपनी दुविधा प्रहस्त के सामने रख दी। प्रहस्त ने कहा—हम लोग रातों-रात जाकर वापिस लौट सकते हैं। किसी को पता ही नहीं लगेगा कि आप कहां गये हैं ? सुबह होते-होते यहां आ पहुँचेगे। आपके मिलन से

अंजना देवी को सन्तोष भी होगा और बदनामी भी नहीं होगी। विमान से चलें और लौट आयें।

अंजना के अन्तःकरण में कभी पल भर के लिए भी पति के प्रति दुर्भावना उत्पन्न नहीं हुई थी। धर्म और उसकी अविचल और अनवद्य आस्था थी। संसार में धर्म की शक्ति अपूर्व और अजेय है उसमें अद्भुत आकर्षण शक्ति होती है। पवन कुमार को अंजना के प्रति आकर्षित करने में धर्म की अदृश्य शक्ति काम कर रही थी।

आखिर पवन और प्रहस्त—दोनों विमान पर आरूढ़ होकर चल पड़े और अंजना के महल में जा पहुँचे। प्रहस्त ने राजकुमार से कहा—ठहर जाइए और भीतर जो बातें हो रही हैं, उन्हें सुन लीजिए। उस समय अंजना और वसन्तमाला में वार्तालाप हो रहा था।

वसन्तमाला कह रही थी—रानी, राजकुमार ने जो अपमान किया है, उसे देखते भविष्य में क्या आशा की जा सकती है?

अंजना—मुझे पतिदेव के काम को नहीं देखना है, अपने धर्म का पालन करना है। पति ने मेरा अपमान किया है तो मैं अपने चित्त में क्यों दुर्भाव उत्पन्न होने दूँ? अपमान का बदला अपमान से नहीं प्रेम करके लेना उचित है। यही दूसरे को हृदय को जीतने का सरल मार्ग है। मैं मोह-वासना को जीतकर अपने जीवन का उत्थान करूँगी। पतिदेव ने रुष्ट होकर मुझे अपना जीवन का सुधार करने का अवकाश दिया है। उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है।

अंजना के हृदय के उद्गार सुनकर पवन कुमार चकित रह गए। कहने लगे—कैसी दृढ़ और विशुद्ध भावना है।

के बदले अपने दोष देखने की आदत डाली जाय तो बहुत से झगड़े सहज ही मिट जावें ।

अंजना की यह बात सुनकर पवन कुमार ने कहा—अपराध तुम्हारा है या हमारा ?

अंजना—मेरी माता ने मुझे अपना ही अपराध मानने की शिक्षा दी है । उन्होंने पतिदेव की सेवा का यही मंत्र सिखलाया है ।

पवन—प्रिये, तुम्हारी भावना पवित्र और प्रशंसनीय है । मैं अभी तक तुम्हें पहचान नहीं सका था । चकवी की प्रेरणा से पहचान सका । आज मेरे जीवन में बड़े ही आनन्द का अवसर है ।

इस प्रकार दो बिछुड़े हृदय परस्पर प्रीति के साथ मिले । पवन कुमार ने वह रात्रि अंजना के महल में ही व्यतीत की ।

प्रभात होने में थोड़ा ही समय शेष रहा था कि प्रहस्त ने आवाज देकर कहा—मित्र, रात्रि थोड़ी रह गई है । चलना चाहिये । हमें अपने ध्येय को भूल नहीं जाना है ।

पवन जाने के लिए तैयार हुए तो अंजना ने हाथ जोड़कर कहा—आज के समागम के फलस्वरूप गर्भ रह गया तो वह आपका ही है, इस बात का साक्षी कौन देगा ? आप साक्षी दिये बिना चले जायँगे तो संभव है कोई नया संकट उपस्थित हो जाय ।

पवन—तुम्हारा कहना यथार्थ है । लेकिन यहां आने की घटना अगर मैं प्रकट कर दूंगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे । साक्षी नहीं देता तो तुम संकट में पड़ सकती हो । अच्छा तो मैं साक्षी के रूप में अपनी अंगूठी देता हूँ । आवश्यकता पड़ने पर इसे काम में लाना ।

[illegible]

[illegible] कुमार ने अंजना [illegible] [illegible] [illegible] हो गई? [illegible] न केतुमती के कानों तक आ पहुँची। [illegible] विश्वास न हुआ, मगर अब उसने अंजना [illegible] विश्वास करना ही पड़ा कि वह गर्भवती है।

केतुमती ने कहा—बहू, तूने यह क्या काली करतूत कर डाली है?

अंजना—माताजी, मुझ पर विश्वास कीजिए। क्रोध न कीजिए। मेरे पेट में जो गर्भ है, आपके पुत्र का ही है। वे विमान से रात्रि में लौट कर आये थे। इस संबंध में वसन्तमाला और उनकी दी हुई अंगूठी साक्षी है। इतने पर भी विश्वास न हो तो अपने पुत्र को आ जाने दीजिए।

केतुमती—वसन्तमाला तेरी ही दासी है और स्वाभाविक है कि वह तेरा ही पक्ष ले। रही अंगूठी, सो वह कहीं यों ही मिल सकती है। ऐसी स्थिति में प्रबल साक्षी के बिना विश्वास नहीं किया जा सकता। सारे नगर में इस बात की चर्चा हो रही है। राजकुमार के लौटने तक तुझे घर में रखना असंभव है। मैं अपने कुल को कलंक न लगने दूंगी।

अंजना के पास और कोई प्रमाण नहीं था। वह सासू के सन्देह को दूर करने में समर्थ न हो सकी। केतुमती ने राजा प्रह्लाद के कान भर दिये। अंजना को घर से निकाल देने का निश्चय हो गया।

प्रह्लाद ने अपने विश्वास और चतुर आदमी को बुला

कर कहा—अंजना को रथ में विठला कर कहीं ऐसी जगह छोड़ आओ कि वह स्वयं अपने मायके पहुँच सके।

राजा का आदमी अंजना के पास आया। उसने कहा—वैठिए; रथ तैयार है रानीजी ने आपको वाहर घूमने के लिए रथ भेजा है।

अंजना समझ गई कि उसे कहाँ जाना है। उसने वसन्तमाला से कहा—मेरे विषय में जो भ्रम उत्पन्न हो गया है। उसी का यह दुष्परिणाम है।

वसन्तमाला—सखी, यह तो भारी अनर्थ हो रहा है। आपकी आज्ञा हो तो मैं महारानी और महाराज के पास जाकर उनके संदेह को दूर करने का प्रयत्न करूँ।

अंजना—इस समय कोई प्रयत्न सफल होने की आशा नहीं है। इस मौके पर सास-ससुर की आज्ञा का पालन करना ही उचित है।

वसन्तमाला, अंजना की दशा का विचार कर रोने लगी। तव अंजना ने कहा—मेरे ऊपर दुःख आया है, फिर भी मैं नहीं रोती और तू रोती है। रोना किसी संकट की दवा नहीं है। कर्म को गति विचित्र है। होनहार होकर ही रहता है। फिर भी सत्य अन्त तक छिपा नहीं रहता। वह एक न एक दिन सूर्य की तरह चमकता है। जिस दिन राजकुमार आये उस दिन तू प्रसन्न हुई थी तो आज दुखी क्यों हो रही है? वसन्तमाला, प्रत्येक परिस्थिति में समभाव रखना ही सुख की कुंजी है। सुख में फूलना और दुख में घवराना नहीं चाहिये।

अंजना अपनी सखी वसन्तमाला के साथ रवाना हुई। पिता के घर भी उसे आश्रय न मिला। पिता ने कह दिया—

जो पतिगृह से कलंकित होकर निकाली गई है, उसे मैं अपने घर में रखकर अपकीर्ति नहीं लेना चाहता। अन्त में अंजना ने जंगल की राह ली। जब पिता के राज्य की सीमा समाप्त हो गई तब अंजना ने जंगल के फल आदि खाकर भूख मिटाई और ठण्डा पानी पीया। कुछ आगे जाने पर अंजना को एक महात्मा ध्यान में मग्न दिखाई दिये। वह वहीं कुछ दूरी पर ठहर गई। ध्यान समाप्त होने पर उसने यथाविधि वन्दना नमस्कार करके अपने दुःखों का कारण पूछा। महात्मा ने करुणा करके कहा—पूर्व भव में अपनी सौत के लड़के को २२ घड़ी तक तूने छिपा रक्खा था और उसे दुखी किया था। इसी कर्म का फल तुझे आज भोगना पड़ रहा है। परन्तु तेरा भविष्य उज्ज्वल है। तुझे प्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी। शीघ्र ही सब दुःख दूर हो जाएँगे।

कुछ समय व्यतीत होने पर अंजना को एक दिन प्रसव-वेदना होने लगी। प्रसव के लिए दोनों एक गुफा के निकट गई तो देखा कि वहां एक सिंह मुँह फाड़े बैठा है। सिंह को देखते ही वसन्तमाला के होश उड़ गये, पर सिंह इन्हें देखकर बाहर चला गया। उसी गुफा में बालक 'हनुमान' का जन्म हुआ। अंजना को इससे अपार आनन्द हुआ। थोड़े दिन बाद उसी वन में अंजना के मामा मिल गये और उनके प्रबल अनुरोध को न टाल सकने के कारण वह उनके घर चली गई।

× × × ×

उधर पवन कुमार युद्ध में विजयी होकर महेन्द्रपुर आये तो तत्काल अंजना से मिलने चले। पर अंजना वहाँ कहाँ थी? उनके सारे उत्साह पर पानी फिर गया। विजय का उल्लास घोर दुःख में परिणत हो गया। वे उसकी खोज करने के लिए

अपनी ससुराल गये; परन्तु जब वहाँ भी अंजना का पता न लगा तो बिना खाये-पीये ही वहाँ से चल पड़े और वन में खोज करते भटकने लगे। अंजना का पता न लगा। पवन कुमार की मनोव्यथा सीमा को पार कर गई। उन्होंने सोचा–ऐसे भयानक वन में अंजना जीवित नहीं रह सकी होगी और जब वह जीवित न रही तो मेरा जीना भी व्यर्थ है। इस प्रकार पवन ने भी प्राण त्याग देने का विचार कर लिया, मगर प्रहस्त ने कहा—कुमार, संभव है देवी अंजना जीवित हों। अगर आप आत्मघात कर लेंगे तो उनकी क्या दशा होगी?

उधर राजा प्रह्लाद और रानी केतुमती के दुःख का पार न था। वे अपने बिना विचारे किये कार्य के लिए घोर पश्चाताप कर रहे थे। अत्यन्त लज्जित थे। राजा प्रह्लाद ने चारों ओर अंजना की खोज के लिए आदमी भेजे। उनमें से एक ने आकर खबर दी-इस समय देवी अंजना अपने पुत्र के साथ हनुमत्पाटन में अपने मामा शूरसेन के घर हैं।

इस समाचार से सर्वत्र आनन्द छा गया। राजा प्रह्लाद कुमार के साथ हनुमत्पाटन आये। राजा शूरसेन ने प्रेम से उनका स्वागत किया। समय पर अंजना और पवन का सम्मिलन हुआ। थोड़ी देर तक किसी के मुख से एक भी शब्द न निकला। आखिर पवन ने पूछा सकुशल तो हो? अंजना भावावेश में कुछ भी न बोल सकी। वसन्तमाला ने इस समय भी उसकी सहायता की। अंजना की कष्ट कथा सुन कर राजकुमार अन्तःकरण व्यथित हो उठा। तत्पश्चात् पवनकुमार ने भी अपना समग्र वृत्तान्त कहा। परन्तु इस मिलन की खुशी में दोनों अपना-अपना भूतकालीन दुःख भूल गये।

यथासमय राजा प्रह्लाद, अंजना आदि को साथ लेकर

अपने घर पहुँचे। अंजना ने पहुँचते ही अपनी सासू के चरणों में प्रणाम किया। सासू का हृदय गद्गद हो उठा। वह बोली-बहू, मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिये हैं। मैंने तुम्हारा परित्याग किया, पर तुमने मेरा त्याग नहीं किया, यह तुम्हारी बड़ी उदारता है। बेटी, तू गुणवती है। तूने हमें तार दिया।

अंजना—माता, आप जरा भी खेद न करें। वह सब तो मेरे ही कर्मों का खेल था। आपका कोई दोष नहीं था। आपने उस समय मेरा कहना मान कर घर से न निकाला होता तो आज जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा है, वह कैसे प्राप्त होता ? इस घटना से मेरी जो प्रशंसा हुई है, वह आपकी ही कृपा का फल है।

वास्तव में अंजना ने राग-द्वेष पर बहुत कुछ विजय प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि वह भयंकर से भयंकर और अनुकूल से अनुकूल परिस्थितियों में समभाव रख सकी। अंजना को केतुमती पर क्रोध आना स्वाभाविक था लेकिन क्रोध न करके उसने उल्टा उपकार माना। उसने कहा-सासूजी ने परीक्षा करके मेरे गुणों को संसार में फैला दिया है। ईख की प्रशंसा इसी कारण होती है कि घानी में पेरने पर भी वह अपना मिठास नहीं छोड़ती। सोना तभी शुद्ध समझा जाता है तब वह ताप-कष-छेद की परीक्षा में ठहरता है।

अंजना परम पतिव्रता सती के रूप में प्रसिद्ध हुई। सब उसे आदर की दृष्टि से देखने लगे और उसकी प्रशंसा करने लगे। कुछ दिनों बाद राजा प्रह्लाद और केतुमती ने संसार त्याग कर प्रव्रज्या धारण की और पवन कुमार राजा एवं अंजना रानी बनीं। आनन्दपूर्वक उनका समय व्यतीत होने लगा।

एक वार पिछली रात में अंजना की नींद टूट गई। उसे विचार आया-मुझे जो सुखसामग्री मिली है वह सबसे पहले को करनी का फल है। उस करनी को सांसारिक कामों में ही खर्च कर देना उचित नहीं। उसकी सहायता से आत्मकल्याण करना उचित है।

इस प्रकार विचार कर अंजना सती पवन कुमार के पास गई और बोली आपकी आज्ञा हो तो मैं धर्म-करनी में लग जाना चाहती हूँ।

पवन—धर्म करने की मनाई किसने की है। खूब किया करो।

अंजना—मेरी इच्छा यह है कि सांसारिक बन्धनों को त्याग कर एक मात्र धर्मक्रिया में ही शेष जीवन व्यतीत करूं।

पवन—क्या घर में रहकर धर्म का आचरण संभव नहीं है?

अंजना—संभव तो है, परन्तु एकाग्र भाव से धर्म की साधना गृहत्याग कर ही की जा सकती है।

पवन—मगर कुछ दिन बाद यह विचार करना उचित होगा।

अंजना—नाथ, काल को रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। कौन जानता है कि काल कब आ जायगा और किसे ले जायगा? अतः जो अवसर मिला है उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

इस प्रकार पति को समझा-बुझा कर तथा अपने पुत्र हनुमान से भी स्वीकृति लेकर अंजना सती महासती बन गईं। पवन भी उन्हीं के साथ दीक्षित होकर मुनि बन गये।

卐

महासती कलावती

चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय की बात है। मगध जनपद के अन्तर्गत शंखपुर नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम भी शंख ही था। संभव है, इसी राजा ने अपने नाम से यह नगर बसाया हो अथवा पहले बसे नगर का नाम बदल कर उसके नाम पर हो गया हो। राजा शंख की उस समय अच्छी प्रसिद्धि रही होगी, यह बात इस घटना से स्पष्ट मालूम होती है।

कलावती इन्हीं राजा शंख की अर्धांगिनी थी। वह देवशाल नगर के राजा विजयसेन की पुत्री और जयसेन की बहिन थी।

किसी समय राजकुमार जयसेन विदेश यात्रा के लिए निकले। वह जिस रास्ते से जा रहे थे, उसी रास्ते में बहिन का नगर भी पड़ता था। राजकुमार ने सोचा—बहिन से मिलने का यह अच्छा अवसर है। बार-बार मिलना नहीं होता। इधर आया हूँ तो मिलता जाऊँ! एक पंथ दो काज हो जाएँगे।

जयसेन शंखपुर की ओर चल दिये। बहिन से मिले। परन्तु उस समय उसके बहिनोई राजा शंख वहाँ मौजूद नहीं थे। कहीं बाहर गये थे। जयसेन को इतनी फुर्सत नहीं थी कि वह अधिक दिन ठहर कर उनकी प्रतीक्षा करते। अतएव वह बहिन से मिल कर ही आगे की यात्रा पर चल पड़े।

स्त्रियां—अपने मायके के प्रति अत्यन्त ममताशील होती हैं। उन्हें पीहर बहुत प्रिय होता है। पीहर से प्राप्त हुई छोटी से छोटी वस्तु भी उन्हें बड़ी और बड़ी प्रिय जान पड़ती है। वे उसे सावधानी से सहेजती हैं और उसे ऐसे अवसर काम में

लाती हैं, जब पाँच आदमी उसे देखें और उस वस्तु की बड़ाई करें। मायके की प्रशंसा उन्हें अत्यन्त रुचिकर होती है। उस प्रशंसा में वे अपना गौरव मानती हैं। यद्यपि नारी का सुख-दुःख उसकी सुसराल पर ही निर्भर है, परन्तु जन्म स्थान का आकर्षण उनके प्राणों को पीहर की ओर ही खींचता है।

हाँ, तो रानी कलावती को उनका भाई जाते समय हाथों में पहनने के कंगन भेंट कर गया था। कलावती ने अपने भाई के द्वारा दिये हुए रत्नजटित कंगन अपने हाथों में पहन लिये। आगे चल कर यही कंगन उसकी विपत्ति के कारण बन गए। अथवा यों कहना चाहिए कि इन कंगनों ने कलावती को इतिहास में अमर कर दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् राजा शंख अपना कार्य करके शंखपुर लौटा। उसने राजमहल में प्रवेश किया और कलावती उसकी अगवानी करने के लिए आगे बढ़ी। बहुत दिनों बाद पति के आगमन से उसके चित्त में अत्यन्त आनन्द हो रहा था। उसका हृदय पुष्प की भांति खिल रहा था। राजा शंख ने भी कलावती की ओर स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखा। मगर शंख की दृष्टि अकस्मात् कलावती के कंगनों पर जा पड़ी।

शंख का आनन्द धीमा पड़ गया उसके हृदय में अप्रिय आशंका उत्पन्न हो गई। शंख ने सोचा—यह कंगन कलावती के पास कहां से आये ? यह मैंने नहीं बनवाये हैं और पहले देखे भी नहीं। कलावती को यह सुन्दर उपहार किसने प्रदान किया है ?

शंका ने क्रोध का रूप प्रदान कर लिया। शंख, सती कलावती के निर्मल चरित्र को मलीन समझ कर क्रुद्ध और संतप्त हो उठा। उसने कलावती को कुलटा समझ लिया।

होगा—आह, जिसे मैंने प्राण सा प्रिय माना, शीलवती और सदाचारिणी समझा था, वह ऐसी दुराचारिणी है! थोड़े दिनों के लिए ही मैं बाहर गया तो उसका यह हाल है। कदाचित् मेरी मृत्यु हो जाय तो क्या होगा? यह मेरे नाम और कुल की कीर्त्ति पर कालिमा पोत देगी। जिसे मैं प्राणों के समान चाहता हूँ, वह किसी और को चाहती है। सच है—स्त्रियों के चरित्र का पता लेना बड़ा ही कठिन है। वे पुरुष मूर्ख हैं जो स्त्रियों पर भरोसा करते हैं और उन्हें 'अबला' कहते हैं।

इस प्रकार सत्य-असत्य का निर्णय किये बिना ही राजा शंख ने कलावती को अपराधिनी समझ लिया। उसने किसी साधारण अपराधी के समान भी कलावती को अपनी सफाई देने का अवसर भी नहीं दिया। उसके अपराध का उसे पता नहीं लगने दिया।

वहम और कुशंका ने उसके हृदय में जड़ जमा ली। इस वहम-निराधार वहम की बदौलत संसार में अनेक अनर्थ हुए हैं। वहम ने बड़े-बड़े पवित्रात्मा महात्माओं की जीते जी खाल खिचवाई है, घानी में पिलवाया है, प्राण लिये हैं! वहम की बदौलत अनेक शीलवती सदाचार की मूर्त्ति सतियों को वनवास आदि की दुःसह यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं। वहम के शिकार होकर न जाने कितने अभिन्नहृदय मित्र शत्रु बन बैठे हैं। वहम मनुष्य की बुद्धि को कुंठित कर देता है, सत्य-असत्य का निर्णय करने की क्षमता को नष्ट कर देता है, यथार्थता पर पर्दा डाल देता है। वह मनुष्य को मूर्ख बना देता है। जब वह हृदय में घुस जाता है तो निकलना कठिन हो जाता है।

राजा शंख के दिल में वहम गहरा घुस गया उसने कलावती जैसी पतिव्रता-सती को कलंकिनी समझ लिया।

उसके अपराध के विषय में किसी से चर्चा तक नहीं की। यहाँ तक कि उसे कठोर से कठोर दंड देने का निर्णय कर लिया।

राजा ने अपने एक सारथी को बुलाकर कहा—सारथी, तुम्हें एक महत्वपूर्ण कार्य सौंपना चाहता हूँ। बड़ी सावधानी के साथ उसे सम्पन्न करना होगा। किसी के कान में भनक भी न पड़े।

सारथी अपने आपको राजा का अतिविश्वासपात्र समझ कर गौरव का अनुभव किया। कहा—अन्नदाता ! आपके लिए मेरे प्राण भी अर्पित हैं। आपके आदेश का पालन करना ही मेरा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। जिस प्रकार आपकी आज्ञा होगी, पालन करूँगा।

शंख—ठीक है। देखो कलावती को रथ में बिठला कर भयानक सुन-सान जंगल में छोड़ आओ।

सारथी को कल्पना भी नहीं थी कि उसे यह आज्ञा दी जाने वाली है। राजा की बात सुनते ही उसका हृदय चीख उठा। कलावती के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। रानी ने अपने सदाचार और सद्व्यवहार से सबका आदर प्राप्त कर लिया था। सब लोग उसे अपनी माता के समान मानते थे और सबको भाई एवं पुत्र के समान समझती थी। ऐसी स्थिति में सारथी के हृदय को गंभीर आघात लगना स्वाभाविक था। वह भौंचक्का-सा रह गया। गर्दन नीची करके गंभीर विचार में डूब गया।

राजा शंख उसके मनोभाव को समझ कर बोले—क्यों क्या सोचते हो ?

सारथी—अन्नदाता, अपराध क्षमा कीजिये। माता कलावती पवित्रात्मा हैं। उनके प्रति यह कठोर व्यवहार······

सन्निकट आ गया था। कलावती हर्षित-चित्त से तैयार हुई और रथ पर सवार हो गई।

रथ चल पड़ा वेग के साथ चलता-चलता सुनसान जंगल को ओर बढ़ा। थोड़ी ही देर में निर्जन और भयानक वन में प्रविष्ट हो गया यह देख कलावती को आश्चर्य हुआ। उसका चित्त उद्विग्न होने लगा। महाराज साथ में नहीं हैं और रथ भयानक वन में चला रहा है ! बात क्या है ? कलावती बेचैन और विकल हो उठी। उसने सारथी से भयंकर वन में लाने का कारण पूछा।

सारथी के हृदय को भी गहरा आघात लगा। उसका गला भर आया। वह कुछ भी नहीं बोल सका।

कलावती सारथी की यह हालत देखकर सन्न रह गई। अमंगल की संभावना से वह सिर से पैर तक काँप उठी। उसने पुनः प्रश्न किया सारथी ! सारी बात स्पष्ट क्यों नहीं करते ?

सारथी की आँखे बरस पड़ीं। वह हिचकियाँ भर-भर कर रोने लगा। रोते-रोते उसने कहा—माताजी, आपके लिए स्वामी की यही आज्ञा है। मैं अत्यन्त पापी हूँ कि मुझे यह जघन्य कृत्य करना पड़ रहा है।

कलावती यह सुनते ही बेहोश हो कर गिर पड़ी। वह सती थी। उसका जीवन स्वच्छ और पवित्र था। पाप की हल्की-सी कालिमा ने भी उसके हृदय को स्पर्श नहीं किया था। अपराधी व्यक्ति अपने अपराध का विचार करके दंड भोगते समय सान्त्वना पा लेता है, किन्तु निरपराध को जब दंड भोगना पड़ता है, तब उसे वह असह्य होता है। उसे धैर्य करने का कोई आधार नहीं मिलता। कलावती को अपने

अपराध का ख़याल भी नहीं था और न वह अपराधिनी थी ही। जिस पर भी उसे दंड मिल रहा था और वह दंड भी साधारण नहीं, भयानक और निर्दयतापूर्ण था। ऐसी स्थिति में रानी अपने आपको संभाल न सकी। वह वेहोश होकर रथ से नीचे गिर पड़ी।

वेहोशी की हालत में ही राजा के द्वारा भेजी हुई एक स्त्री ने वहुत तीखे शस्त्र से कलावती के दोनों हाथ काट लिये। कटे हाथों को लेकर वह उसी समय वापिस लौट गई। रोते-विलखते सारथी ने भी उसी समय चला जाना उचित समझा। होश आने पर वह रानी को क्या उत्तर देगा? क्या कह कर विदाई लेगा? कैसे उसे अकेली अपंग दशा में छोड़ कर जायगा? इत्यादि विचार करके सारथी रानी को वेहोश छोड़ कर ही रवाना हो गया।

हाथ कट जाने पर कलावती की मूर्छा तो हट गई, परन्तु मानसिक और शारीरिक–दोनों प्रकार की पीड़ा से वह तड़फड़ाने लगी। उसकी वेदना इतनी वढ़ गई कि वालक का प्रसव हो गया। रानी के लिए यह दूसरी विपत्ति थी। दोनों हाथ कट चुके थे। वह वालक को उठा और सँभाल नहीं सकती थी। वालक रुदन करने लगा और उधर कलावती का हृदय भी रोने लगा। भीषण दुःख से एक वार फिर वह वेहोश हो गई, परन्तु नवजात वालक का रुदन सुन कर उसकी वेहोशी शीघ्र ही दूर हो गई। एक कवि ने इस घटना का वर्णन इस इस प्रकार किया है:—

म्हारो वालकजी यों तड़फे,
रुदन मचावे, कुण आकर धीर वँधावे?

शुद्ध मन सेती परमेष्ठि ध्यान जब ध्यावे,
सुर आनन्द हाथ बनावे।
ले बालकियो रानी, झट दूध पिलावे,
देव पुष्प वृष्टि बरसावे।
उन विरियां जी एक तपस्विनी आवे,
शिशु रानी को संग ले जावे॥

रानी कलावती के हृदय के दुःख को शब्दों द्वारा प्रगट करना संभव नहीं। राजमहल में होती तो इस प्रसंग पर कैसा उत्सव मनाया जाता? राज्य भर में हर्ष और आनन्द की लहरें उठने लगतीं। बाजों का मांगलिक घोष होता और राजा प्रजा का हृदय बांसों उछलने लगता। किन्तु आज राजकुमार सुनसान वन में असहाय हो कर चीख रहा है! धरती पर पड़ा बिलख रहा है! कोई उसे हाथों में लेने वाला भी नहीं है। माता पास में है, परन्तु उसके हाथ कटे हैं! हाय, कितनी विषम और दारुण अवस्था है! रानी के हृदय पर उस समय कैसी बीत रही होगी, यह कल्पना करना भी कठिन है।

किन्तु रानी धर्मवती थी। उसने विचार किया इस समय हाय-हाय करने से काम नहीं चलेगा। विपदा के समय धर्म ही सहायक होगा। यह सोच कर कलावती ने चित्त को शान्त करके पंच परमेष्ठी का ध्यान किया। वह प्रभु के ध्यान में लीन हो गई।

जब सारा संसार विमुख हो जाता है, कोई भी सहायक नहीं होता, तब धर्म ही सहायक बनता है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। रानी कलावती परम शीलवती थी। उसके रोम-रोम में धर्म के संस्कार विद्यमान

है। फलतः उस विकट संकट के अवसर पर धर्म ने उसकी रक्षा की। उसके ध्यान की शक्ति से शीलरक्षक देव का सिंहासन डोल उठा। देव ने उपयोग लगाया तो उसे प्रतीत हुआ कि एक सती पर घोर संकट आ पड़ा है। देव ने रानी की धर्मनिष्ठा का विचार किया और तत्काल ही अपनी दिव्य शक्ति से उसके हाथ ज्यों के त्यों बना दिये।

अचानक दोनों हाथ पाकर रानी को आश्चर्य के साथ परम आनन्द की प्राप्ति हुई। उसने सोचा वास्तव में धर्म की शक्ति अद्भुत है। धर्म के प्रताप से ही जीव दुखों से बचता है और सुख का भागी हो सकता है। इस संसार में धर्म के समान सुखदाता और कोई भी नहीं हो सकता।

दोनों हाथ प्राप्त होते ही रानी कलावती ने अपने आँखों के तारे, परम दुलारे पुत्र को उठा लिया। उसे छाती से लगाया और फिर बार-बार चूमा। दूध पिलाने पर बालक चुप हो गया।

उसी समय उस वन में रहने वाली एक तपस्विनी वहां आ पहुंची। वह बालक और कलावती को अपने आश्रम में ले गई। आश्रम में पहुंच कर रानी कलावती निर्भय, निश्चिन्त और स्वस्थ हुई। प्रेम के साथ अपने बालक का पालन-पोषण करने लगी।

(२)

जरा पाठक शंखपुर की ओर ध्यान दें।

जब राजा शंख के सामने महारानी कलावती के दोनों कटे हाथ उपस्थित किये गये तो क्षण भर के लिए राजा को सन्तोष हुआ। उसने सोचा-कलावती को मेरे साथ विश्वासघात करने की उचित शिक्षा मिल गई!

परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी नज़र कंगनों पर पड़ी। उसने गौर से कंगन देखे और उन पर लिखे हुये अक्षर पढ़े। उसे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उन पर कलावती के भाई का नाम खुदा हुआ है। राजा को यह समझते देर न लगी कि यह कंगन कलावती के भाई ने ही उसे भेंट में दिये हैं। यह समझते ही राजा को मनोवेदना का पार न रहा। उसके हृदय को गहरा आघात लगा। दुःख के कारण वह विकल हो उठा। अपने अविचारपूर्ण कृत्य के लिए घोर पश्चाताप करने लगा। सोचने लगा-हाय, मैंने यह क्या कर डाला ! कलावती जैसी सती पत्नी के साथ निर्दयता से भरा व्यवहार किया ! बिना सोचे-विचारे आवेश में आकर मैंने जो क्रूर कर्म किया है, न जाने उसका क्या दुष्परिणाम होगा ! रानी गर्भवती थी और दोनों हाथों से अपंग कर दी गई है। अब उसका जीवित रहना संभव नहीं जान पड़ता। किसी ने सत्य ही कहा है :—

अविचारः परमापदां पदम्।

बिना विचारे कार्य करने से अनेक आपत्तियां आ पड़ती हैं। अविचार सर्वनाश का कारण है। अनर्थों का मूल है। जो भलीभांति विचार किये बिना ही कार्य करता है, वह मूर्ख बनता है, जगत् में उपहास का पात्र बनता है और कभी-कभी ऐसा काम कर गुजरता है कि जिन्दगी भर पछताता है।

राजा शंख ने सती कलावती को बिना जांच-पड़ताल किये कठोर से कठोर दंड दे दिया। अगर वह थोड़ा सा भी विचार करता, कलावती को अपनी निर्दोषता सिद्ध करने का अवसर देता और आवेश में आकर शान्त एवं स्वस्थ चित्त से

[illegible] रानी की ओर से [illegible] और राजा को भी पछताने का अवसर न आता।

आवेश मनुष्य को गड्ढे में गिरा देता है। आवेश विवेक-बुद्धि का विनाश कर डालता है। आवेश मनुष्य को अंधा बना देता है। आवेश के वश में बड़े से बड़ा मनुष्य भी अत्यन्त मूढ़ बन जाता है।

जब राजा शंख को अपनी मूर्खता का पता चला तो वह अपने को धिक्कारने लगा अपने आपको जघन्य अपराधी, अपनी प्राण प्रिया पत्नी तथा पुत्र का घातक समझने लगा। पश्चाताप की आग में जलने लगा।

राजा शंख ने तत्काल अपने मंत्री को बुलाया और समग्र वृत्तान्त कह कर उससे सम्मति मांगी कि अब क्या करना चाहिए ?

मंत्री को भी यह वृत्तान्त जानकर दारूण दुःख हुआ। उसने कहा--नर-नाथ, जो हुआ सो बहुत बुरा हुआ, परन्तु इस समय अतीत का स्मरण करने की अपेक्षा भविष्य के कर्त्तव्य का विचार करना अधिक श्रेयस्कर है। एक भी क्षण का विलम्ब न करके महारानी की खोज करनी चाहिए। जिस वन में और जहाँ उन्हें छोड़ा गया है, अभी वहाँ चलना योग्य है।

आखिर मंत्री को साथ लेकर राजा शंख उसी वन में पहुँचा। जिस जगह रानी के हाथ काटे गये थे, उस जगह पहुँच कर देखा तो अब भी खून के चिह्न विद्यमान थे। उन चिह्नों को देखकर राजा का हृदय भर आया। उसे रानी को पुनः जीवित अवस्था में देखने की आशा न रही। तथापि मंत्री के धीरज बंधाने पर वह आगे बढ़ा। खोज करते-करते वे दोनों

अचानक उस तपस्विनी के आश्रम में जा पहुँचे, जहाँ सती कलावती अपने पुत्र के साथ शान्तिपूर्वक निवास कर रही थी।

रानी को देखकर और विशेषतः उसके दोनों हाथों को ज्यों का त्यों जुड़ा हुआ देखकर राजा के हर्ष और आश्चर्य का पार न रहा। मगर अपनी करतूत का विचार करके वह लज्जा से ज़मीन में गड़ा जा रहा था। उसमें आँख ऊँची उठाकर देखने का भी साहस नहीं रहा था। इस प्रकार राजा शंख की अवस्था उस समय बड़ी विकट थी।

रानी कलावती ने देखा कि मेरे पति अत्यन्त लज्जित हो रहे हैं और आत्मग्लानी के कारण बोल नहीं रहे हैं। तब उसके चित्त में भी नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होने लगे। परन्तु कुछ बोल न सकी। थोड़ी देर के बाद राजा ने हृदय संभाल कर कहा—देवी ! तुम पतिव्रता रमणी हो। तुम्हारे प्रति मैंने जो जघन्य और नृशंसतापूर्ण व्यवहार किया है, उसके लिए मुझे क्षमा कर दो। यद्यपि मेरा व्यवहार अत्यन्त कठोर हुआ है, फिर भी उसे भूल जाओ। अविचार और आवेश ने मुझे अंधा-विवेकहीन-बना दिया था। राजमद में चूर होकर मैं अपने कर्त्तव्य को भूल गया था।

कलावती ने अपने पति को इस प्रकार दुखी होते देखकर कहा—प्राणनाथ ! आप व्यर्थ सन्ताप कर रहे हैं। संसार में कोई किसी को दुखी नहीं कर सकता। सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। कहा भी है :—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं पुनः॥

[illegible]

[illegible]

इस प्रकार कलावती की उदारतापूर्ण बात सुनकर राजा शंख को संतोष हुआ। कलावती पतिव्रता थी, सती थी, फिर भी उसकी इतनी महिमा जो ख्याति हुई, उसका कारण यही उदारता थी। पल भर के लिए भी उसके चित्त में अपने पति के प्रति विरोध, क्रोध, या आक्रोश का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उसने अतुल्य समभाव से समस्त संकटों को सहन किया और पति पर स्नेह का भाव बनाए रखा।

आखिर राजा शंख रानी कलावती को साथ लेकर शंखपुर में आया। दोनों अभिनव स्नेह के साथ जीवन यापन करने लगे।

कुछ दिन पश्चात् शंखपुर में 'जयघोष' नामक मुनिराज पधारे। वे चार ज्ञानों धारक थे। राजा और रानी उनका उपदेश सुनने गये। उपदेश समाप्त होने पर रानी कलावती ने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवान् ! मैंने किस भव में, कौन-सा घोर पाप किया था, जिसके फलस्वरूप इस भव में मुझे हाथ कटने का दंड भुगतना पड़ा ? अनुग्रह करके प्रकाश डालिए।

मुनिराज ने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर बतलाया—महाभागे ! अपने पूर्वभव में तुम सुलोचना नामक रानी थी।

महाराज शंख उस समय तुम्हारे पालतू तोते के रूप में थे। बड़े लाड प्यार के साथ तुम तोते का पालन करती थीं। एक बार वहाँ तीर्थंकर भगवान् का शुभागमन हुआ। तुम तोते को साथ लेकर भगवान् के समीप गई। दूसरे दिन तुम्हारे जाने में देरी देख तोते ने अपने पंजे से पिंजरे की कील खोल ली और वह अकेला ही भगवान् के पास उड़ गया। जब तुमने पिंजरे को खाली देखा तो तोते खोजने के लिए दास-दासियों को दौड़ाया। तोता मार्ग में ही उन्हें मिल गया। वे उसे पकड़ कर तुम्हारे पास लाए। तुमने क्रोधित होकर उसके दो पंख नोंच लिए।

इस प्रकार तोते के जीव ने अपने पूर्व जन्म का बदला लेने के लिए तुम्हारे हाथ कटवा दिए। तुमने दो पंख नोंचे थे, उसके फलस्वरूप तुम्हारे दोनों हाथ काटे गए। कोई कितना ही सामर्थ्यवान् क्यों न हो, अपने किये कर्म का फल भोगने से बच नहीं सकता।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जयघोष मुनिराज की यह मर्म भरी बात सुनकर राजा और रानी को उसी समय जातिस्मरण ज्ञान हो गया। दोनों को अपने-अपने पूर्व भव स्पष्ट दिखाई देने लगे। दोनों ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरण-कमलों में नमस्कार किया और कहा—भगवान्! आपने हमारे नेत्रों पर पड़ा पर्दा दूर कर दिया! आपके असीम अनुग्रह को हम कभी नहीं भूल सकेंगे।

अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर राजा और रानी को संसार से विरक्ति हो गई। उन्हें संसार नीरस और भया-

राजकुमार को अपार सम्पत्ति प्राप्त थी, राजकीय ऐश्वर्य प्राप्त था और नवयौवन अवस्था थी, मगर भोग-विलास की प्रवृत्ति उनके चित्त में उदित नहीं हुई थी। विवाह करने की अरुचि देखकर माता-पिता को मन मार कर रह जाना पड़ा।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई, जिससे कुमार का जीवन एकदम ही बदल गया कहना शायद उपयुक्त न हो, कहना चाहिए कि उनके अन्तःकरण में जो अग्नि सुलग रही थी, वह भड़क उठी। उनकी दबी हुई आकांक्षा निमित्त पाक उभर आई। श्रावस्ती ने एक दिन विजयसेन मुनि का शुभाग मन हुआ। मुनिराज संसार के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता थे जीवन की अस्थिरता और संसार की असारता के कारण उनके हृदय में प्रबल वैराग्य उमड़ रहा था। भोग-विलास फंसे हुए संसारी जीवों पर उन्हें तरस आता था। वे सोचते—अहा, ये बेचारे-मोह के प्रगाढ़ बन्धन से जकड़े हुए और विवेक हीनता के कारण अपने हित-अहित को न समझने वाले जीव कितने दयनीय है ! इन्हें यह भी नहीं ज्ञात है कि सच्चा सुख क्या है ? ये सुख की इच्छा की इच्छा रखते हैं, सुख के लिए

ही रात-दिन श्रम करते हैं—खपते हैं, फिर भी सुख के स्वरूप को न समझने के कारण उलटे दुःख के भागी बनते हैं!

अपनी इस करुणापूर्ण विचारधारा के कारण मुनि विजयसेन ने उपदेश सुनने के लिए आये हुए श्रोताओं से कहा— सुख आत्मा का ही गुण है और गुण सदैव गुणी में ही रहता है। गुणी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। सुख के संबंध में भी यही बात है। सुख आत्मा में है, अन्यत्र नहीं। जड़ पदार्थों में सुख कहाँ से आया? पर तुम तृष्णा के वशीभूत होकर जड़ पदार्थों में सुख की खोज करते हो। ऐसा करके तुम बालू में से तेल निकालना चाहते हो। यह असंभव है। इस असंभव को संभव बनाने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। अगर तुम्हें सुख की इच्छा है तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करो। अपनी आत्मा को ही टटोलो। बाह्य पदार्थों से विमुख होकर आत्माराम में ही रमण करो। आत्मा पर आये हुए आवरणों को दूर करने का प्रयत्न करो। अपने असली स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास करो। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रकट होना ही अनन्त आनन्द का प्रकट होना है। आत्मा आनन्द को प्रकट करने का साधन है तृष्णा एवं ममता का परित्याग करके चित्त को उपशान्त एवं निराकुल बनाना। जितनी-जितनी भोगों के प्रति निरीह-वृत्ति बढ़ती जाएगी, उतना ही उतना निराकुलताजनित आनन्द भी बढ़ता चला जाएगा। स्मरण रखो कि संसार की चौरासी लाख योनियों में यही मानव-योनि श्रेष्ठ है और आत्मा के स्वरूप का विकास इसी योनि में पूर्णता पर पहुँचता है। यह जीवन अध्रुव है, अशाश्वत है। अतएव इसका आत्मकल्याण में उपयोग कर लेना ही बुद्धिमत्ता है। खूब अच्छी तरह समझ लो कि

उस समय तपस्या के पारणा का दिन था। मुनिराज गोचरी के लिए निकले और पर्यटन करते हुए राजमहल के नीचे होकर गये। इस नगर के राजा का नाम पुरुषसिंह था। यह खंदक मुनि के बहिनोई थे। उनकी बहिन सुनन्दा का विवाह पुरुषसिंह के साथ ही हुआ था। जिस समय खंधक मुनि राजमहल के पास से निकले, राजा-रानी दोनों महल के गवाक्ष में बैठे चौपड़ खेल रहे थे। अचानक रानी सुनन्दा की दृष्टि मुनि पर पड़ गई।

प्रथम तो उग्र तपस्या के कारण मुनि के शरीर का रूप बदल गया था, दूसरे रानी का मन खेल की तरफ था। अतएव उसने मुनि को पहचान न पाया। मगर मुनि को देखकर सुनन्दा को अपने भाई का स्मरण हो आया। चित्त उदास हो गया और खेल से हट गया।

चित्त की उदासीनता छिपती नहीं है। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' अर्थात् चेहरा मनोभावों को प्रकट कर देता है। इस उक्ति के अनुसार सुनन्दा के मन में अपने भाई की स्मृति के कारण जो उदासी आई तो वह उसके चेहरे पर भी झलक उठी। राजा पुरुषसिंह से रानी की यह परिवर्तित चेष्टा छिपी न रही। मगर उसने और ही कुछ अभिप्राय समझ लिया। उसने रानी एवं मुनि के बीच अनुचित सम्बन्ध की कल्पना कर ली। वह खेलना बन्द करके उत्तेजना के वश होकर उठ खड़ा हुआ और उसी समय अन्यत्र चला गया।

संसार में भ्रम और आशंका एवं निराधार सन्देहों के कारण कितने ही अनर्थ होते रहते हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य तो यह है कि वह अपनी बुद्धि को सदा सजग रक्खे और जब दूसरे को अपराधी ठहराने का प्रसंग हो, किसी पर लांछन आता हो,

तो सौ बार भली-भांति विचार करे, पर उत्तेजना, द्वेष, रोष आदि ऐसे भयंकर शत्रु हैं कि वे विवेक को नष्ट कर देते हैं। इनके अधीन होकर मनुष्य मूढ़ बन जाता है।

पुरुषसिंह ने उत्तेजना ही उत्तेजना में जल्लादों को बुलाया और जिंदा मुनि के सारे शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने की आज्ञा दे दी। इस अत्यन्त कठोर आज्ञा को सुनकर पाषाण-हृदय जल्लाद भी एक वार कांप उठे। पर उस समय राजा के आदेश के विरुद्ध एक भी शब्द बोलना अपने प्राणों को संकट में डालना था। उन्होंने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक राजा के सुपुर्द करके उसके आदेश का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। वे चुपचाप अनमने भाव से वहाँ से रवाना हुए।

उधर मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन कर रहे थे। उन्हें साधु धर्म के अनुकूल भिक्षा नहीं मिल पाई थी कि जल्लाद उनके समीप जा पहुंचे। उन्होंने राजा का आदेश सुनाया और साथ ही सीधे श्मशान की ओर चलने को कहा।

कितना भयावह प्रसंग था मनुष्य मौत का नाम सुनते ही कांपने लगता है, परन्तु मौत का यह तरीका तो वड़ा ही भीषण था। फिर भी मुनिवर खंधक जरा भी विचलित नहीं हुए। पल भर के लिए भी उनके अन्तःकरण में कायरता का संचार न हुआ। दीनता उनके पास भी न फटकी। भय ने उन्हें व्याकुल न किया। यहां तक कि उनके चेहरे के भावों में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

ऐसा होता भी क्यों? जिस महापुरुष ने अपने आपको शरीर से सर्वथा भिन्न मान लिया हो, जिसने अपने अमर स्वरूप की प्रतीति कर ली हो, जो शरीर को आत्मा का कारागर

उस समय तपस्या के पारणा का दिन था। मुनिराज गोचरी के लिए निकले और पर्यटन करते हुए राजमहल के नीचे होकर गये। इस नगर के राजा का नाम पुरुषसिंह था। यह खंदक मुनि के बहिनोई थे। उनकी बहिन सुनन्दा का विवाह पुरुषसिंह के साथ ही हुआ था। जिस समय खंधक मुनि राज-महल के पास से निकले, राजा-रानी दोनों महल के गवाक्ष में बैठे चौपड़ खेल रहे थे। अचानक रानी सुनन्दा की दृष्टि मुनि पर पड़ गई।

प्रथम तो उग्र तपस्या के कारण मुनि के शरीर का रूप बदल गया था, दूसरे रानी का मन खेल की तरफ था। अतएव उसने मुनि को पहचान न पाया। मगर मुनि को देखकर सुनन्दा को अपने भाई का स्मरण हो आया। चित्त उदास हो गया और खेल से हट गया।

चित्त की उदासीनता छिपती नहीं है। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' अर्थात् चेहरा मनोभावों को प्रकट कर देता है। इस उक्ति के अनुसार सुनन्दा के मन में अपने भाई की स्मृति के कारण जो उदासी आई तो वह उसके चेहरे पर भी झलक उठी। राजा पुरुषसिंह से रानी की यह परिवर्तित चेष्टा छिपी न रही। मगर उसने और ही कुछ अभिप्राय समझ लिया। उसने रानी एवं मुनि के बीच अनुचित सम्बन्ध की कल्पना कर ली। वह खेलना बन्द करके उत्तेजना के वश होकर उठ खड़ा हुआ और उसी समय अन्यत्र चला गया।

संसार में भ्रम और आशंका एवं निराधार सन्देहों के कारण कितने ही अनर्थ होते रहते हैं। मनुष्य का कर्तव्य तो यह है कि वह अपनी बुद्धि को सदा सजग रक्खे और जब दूसरे को अपराधी ठहराने का प्रसंग हो, किसी पर लांछन आता हो,

तो सौ वार भली-भांति विचार करे, पर उत्तेजना, द्वेष, रोष आदि ऐसे भयंकर शत्रु हैं कि वे विवेक को नष्ट कर देते हैं। इनके अधीन होकर मनुष्य मूढ़ वन जाता है।

पुरुषसिंह ने उत्तेजना ही उत्तेजना में जल्लादों को वुलाया और जिंदा मुनि के सारे शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने को आज्ञा दे दी। इस अत्यन्त कठोर आज्ञा को सुनकर पाषाण-हृदय जल्लाद भी एक वार कांप उठे। पर उस समय राजा के आदेश के विरुद्ध एक भी शब्द वोलना अपने प्राणों को संकट में डालना था। उन्होंने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक राजा के सुपुर्द करके उसके आदेश का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। वे चुपचाप अनमने भाव से वहाँ से रवाना हुए।

उधर मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन कर रहे थे। उन्हें साधु धर्म के अनुकूल भिक्षा नहीं मिल पाई थी कि जल्लाद उनके समीप जा पहुंचे। उन्होंने राजा का आदेश सुनाया और साथ ही सीधे श्मशान की ओर चलने को कहा।

कितना भयावह प्रसंग था मनुष्य मौत का नाम सुनते ही कांपने लगता है, परन्तु मौत का यह तरीका तो वड़ा ही भीषण था। फिर भी मुनिवर खंधक जरा भी विचलित नहीं हुए। पल भर के लिए भी उनके अन्तःकरण में कायरता का संचार न हुआ। दीनता उनके पास भी न फटकी। भय ने उन्हें व्याकुल न किया। यहां तक कि उनके चेहरे के भावों में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

ऐसा होता भी क्यों? जिस महापुरुष ने अपने आपको शरीर से सर्वथा भिन्न मान लिया हो, जिसने अपने अमर स्वरूप की प्रतीति कर ली हो, जो शरीर को आत्मा का कारागर

समझता हो, वह शरीर के नष्ट होने पर क्यों व्याकुल-व्याकुल होगा ?

मुनिराज भलीभांति जानते थे कि राजा के इस आदेश का तात्कालिक कोई कारण नहीं है। फिर भी कारण के बिना कार्य होता नहीं, इस न्याय के अनुसार कोई कारण होना अवश्य चाहिए। वह किसी पिछले जन्म की घटना ही हो सकती है। जो हो, पर आज चिरकाल से चढ़ा कर्ज उतर रहा है, यह कोई अवांछनीय बात नहीं। आत्मा जितना हल्का हो जाय, अच्छा ही है,

मुनिराज फिर सोचने लगे—पुरुषसिंह मेरे संसार-अवस्था के संबंधी हैं। आदर्श संबंधी वही है जो अपने संबंधी की सहायता करता है। सचमुच वह मेरी सहायता कर रहे हैं। मेरी ममता के एक साधन को कम कर रहे हैं। मेरी साधना के फल को निकटतर लाने में सहायक हो रहे हैं। मुझे इतने दिनों के संयम-पालन का जो फल विलंब में मिलता, उनकी कृपा से आज ही मिल जायगा। इसमें रोष का कोई कारण नहीं, द्वेष की कोई बात नहीं।

इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज श्मशान की ओर बढ़े चले जा रहे थे। उनकी भावना उच्च से उच्चतर और विशुद्ध से विशुद्धतर होती चली जा रही थी। इतने में श्मशान आ गया।

मुनिराज खंदक एक स्थान पर ठिठक गये। जल्लाद अपनी तैयारी करने लगे। मुनिराज ने उन पर करुणा का अमृत बरसाते हुए कहा—भाई तपस्या के कारण इस शरीर का मांस सब सूख गया है। चमड़ी हाड़ों से चिपक गई है। इस

चमड़ी को उधेड़ने में तुम्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा ! तुम्हारे शास्त्र तीखे तो हैं ?

जल्लाद इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हो गये। उनके कलेजे में जैसे तीर चुभा हो ! जीवित शरीर की चमड़ी उधेड़ने वाले जल्लादों के प्रति मुनि की यह करुणा ! जल्लादों के हृदय में शूल भिदने लगे। उनके नेत्रों से धारा बहने लगी। वे मुनिराज के चरणों में लोट गये ! क्षण भर के लिए राजा के आदेश का उल्लंघन कर डालने की उनकी इच्छा हुई। पर कुटुम्ब...........परिवार . ...बाल बच्चे !

और फिर मुनि की रक्षा तो असंभव है ! हम भी मारे जाएँगे, मुनि भी न बच सकेंगे ! यह विचार उनके आश्वासन का आधार बन गया।

मुनिराज खंदक यों तो दीक्षा के समय से ही शरीर ममता का परित्याग कर चुके थे; पर संयम में साधक जान कर उसे महीने भर में एक बार भाड़ा दे दिया करते थे। अब उन्होंने अन्तिम रूप से उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया कायोत्सर्ग करके ध्यान में लीन हो गए। यह विचार करने लगे:—

क्रमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भिद्यमाने न भेत्तव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः॥

अर्थात्—सैकड़ों कीड़ों के समूह से व्याप्त देह नामक यह हाड़ों का पींजरा अगर भेदा जा रहा है तो भिदने दो ! हे आत्मन् ! तेरे लिए भय की क्या बात है ! तू तो ज्ञानमय देह वाला है !

इस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता का विचार करते हुए मुनिराज परमज्योति में तन्मय हो गए। जल्लादों ने

उठीं । उन्हें अपना गृहस्थजीवन और मातृत्व निष्फल दिखाई देने लगा ।

श्रीकृष्णजी अपने समय के अद्वितीय राजा, असाधारण राजनीतिज्ञ, अत्यन्त प्रतिष्ठित और सम्माननीय पुरुष थे । राजनीति के क्षेत्र में उनसे टक्कर लेने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था । वे तीन खंड के नाथ थे । असीम वैभव से सम्पन्न थे । बड़े-बड़े शूरवीर राजा-महाराजा उनके सामने थर-थर कांपते थे और उनकी प्रसन्नता में ही अपनी कुशलता समझते थे । रण-सूरमा उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे । वास्तव में उनका प्रताप अद्वितीय था । उनकी धाक असाधारण थी ।

कृष्णजी अपने युग के एक महापुरुष थे । महापुरुषों में अनेक विशेषताएं होती हैं और वे इन महापुरुष में भी मौजूद थीं । उनमें से एक विशेपता यह भी थी कि वे अपने माता-पिता के अत्यन्त भक्त और सेवक थे । लोक में मिलने वाले मान-सन्मान ने उन्हें अभिमानी नहीं बनाया था । वे प्रतिदिन, प्रातःकाल माता-पिता के चरणों में नम्रतापूर्वक प्रणाम करने के लिए उनके पास जाया करते थे ।

नित्य के नियम के अनुसार कृष्णजी उस दिन भी अपनी माता देवकी के चरण छूने गए । पर यह क्या ? माता का उदास चेहरा देखकर उनके अचरज का ठिकाना न रहा । तीन खण्ड के नाथ की माता और यह उदासी । कृष्णजी हक्के-बक्के रह गए ।

उधर कृष्णजी को अपने सामने देखकर देवकी की हृदय-वेदना उमड़ पड़ी । आंखें गीली हो गईं । कृष्णजी के लिए माता की यह वेदना असह्य हुई । उन्होंने चरण छूकर प्रणाम किया और कहा—माताजी, प्रतिदिन आपके चेहरे पर जो

सन्तुष्टि और प्रसन्नता दिखाई देती थी, आज वह कहां है? मेरे रहते आपको क्या कष्ट है? कहिए, मैं प्राणों की बाजी लगाकर भी आपको प्रसन्न करूंगा।

देवकी महारानी असमंजस में पड़ गई। क्या कहें और क्या न कहें, वही उनकी दुविधा थी। पर कृष्णजी कब मानने वाले थे? उनके आग्रह करने पर देवकीजी को अपना अन्तस खोलना पड़ा। उन्होंने कहा—बेटा, मैंने सात पुत्र-रत्नों की माता होने का गौरव पाया पर मेरा मातृत्व निष्फल ही रहा। इस जीवन में मैंने मातृधर्म पालन करने का अनूठा आनन्द न उठा पाया। मेरी यह लालसा ज्यों की त्यों रह गई। मातृत्व की प्यास न बुझ पाई। यही प्यास आज मेरे हृदय को व्याकुल कर रही है। मैं भाग्यशालिनी होकर भी कितनी अभागिनी हूँ कि अपने किसी शिशु की शिशुक्रीड़ा का आनन्द भी न ले सकी यही सोच कर आज दिल उमड़ आया। जब से अपूर्व सुन्दर तेरे छह भाइयों को मुनि के वेष में देखा है, तभी से हृदय बेचैन हो रहा है।

कृष्णजी अपनी माता की वेदना को समझ गए। उनके जैसे सामर्थ्यशाली पुरुष के लिए कोई कार्य कठिन नहीं था। देवता जिनके वशीभूत हों, सेवक हों, उनके लिए कौन-सा कार्य असंभव हो सकता है?

कृष्णजी माता देवकी से विदा लेकर अपनी पोषधशाला में आए और तेला की तपस्या करके बैठ गए। उन्होंने देवता का स्मरण किया। तपस्या में अपूर्व शक्ति है। तपस्या की शक्ति कल्पना और बुद्धि से भी परे है। तपस्या से इन्द्र का भी सिंहासन डोल उठता है। 'तपसा किं लभ्यते?' अर्थात् इस संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तप के द्वारा प्राप्त न की

जा सके ? जिस तप के प्रभाव से अनादिकाल से चले आने वाले आत्मा के विकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं; और जो तप आत्मा को परमात्मा के परमोच्च पद तक पहुँचाने की क्षमता वाला है, उससे लौकिक कामनाओं की पूर्ति हो जाने में क्या आश्चर्य है ? किसी ने यथार्थ ही कहा है:—

> यत् किञ्चित् त्रिषु लोकेषु, प्रार्थयन्ति नराः सुखम् ।
> तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

अर्थात्—मनुष्य तीन लोक के जिस किसी भी सुख की कामना करते हैं, वह सब तपस्या के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। संसार में कोई ऐसा सुख नहीं जो तप से प्राप्त न हो सके। तप की शक्ति अमोघ है—वह कदापि निष्फल नहीं होती।

तप के प्रभाव से देवता का आगमन हुआ और वासुदेव कृष्ण ने उससे अपने लिए एक भाई की मांग की। देव 'तथास्तु' कह कर अन्तर्ध्यान हो गया।

राजकुमार गजसुकुमार के जन्म का यही इतिहास है। माता देवकी के मातृत्व की मांग से तथा श्रीकृष्णजी की तपस्या के प्रभाव से राजकुमार का जन्म हुआ। पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि जिन परिस्थितियों में गजसुकुमार का जन्म हुआ, उनमें किस धूमधाम से उनका जन्मोत्सव मनाया गया होगा और किस अपूर्व लाड़-प्यार से उनका लालन-पालन हुआ होगा ! वास्तव में माता देवकी ने अपने सारे अरमान पूरे कर लिए। बड़े ही चाव से और बड़े ही भाव से कुमार का पालन-पोषण किया गया।

कुमार अत्यन्त सुन्दर थे और साथ ही सुकुमार भी।

कहते हैं, उनकी कोमलता गज (हाथी) के तालु के समान थी। इसी कारण उनका सार्थक नाम 'गजसुकुमार' रक्खा गया।

महाराज वसुदेव, माता देवकी और ज्येष्ठ भ्राता श्री कृष्ण के प्रचुर वात्सल्य-रस का पान करते हुए गजसुकुमार शुक्ल के चांद की तरह बढ़ने लगे। नित्य नई कलाएँ बिखेरते हुए वे अपने परिवार को परम आह्लाद पहुँचाने लगे। उनकी सुन्दर और बालसुलभ सूरत देख कर अन्य दर्शक मुग्ध हो जाते थे तो माता-पिता आदि का तो कहना ही क्या है?

धीरे-धीरे बाल्यावस्था पार करके वे युवावस्था में प्रविष्ट हुए। महाराज श्री कृष्ण की देखरेख में वे शास्त्रविद्या और शस्त्रविद्या में निपुण हो चुके थे। पुरुषों के लिए निर्धारित ७२ कलाओं में उन्होंने निपुणता प्राप्त कर ली थी।

इसी समय भगवान् अरिष्टनेमि देश देशान्तर में परिभ्रमण करते हुए और भव्यजीवों का आत्मकल्याण का प्रशस्त एवं पावन पथ प्रदर्शित करते हुए द्वारिका नगरी में पधारे। द्वारिका नगरी उस समय बहुत विशाल थी। बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी बसी हुई थी। अतएव विराट जनसमूह भगवान् के दर्शन करने तथा उनके मुखारविन्द से उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ा। कृष्णजी भी कब पीछे रहते थे। वे भी भगवान् के दर्शन के लिए अपने लघु बन्धु गजसुकुमार के साथ रवाना हुए।

मार्ग में उन्हें एक कन्या दिखलाई पड़ी। कन्या अत्यन्त सुन्दरी और शुभलक्षणों से सम्पन्न थी। वह गेंद खेल रही थी। नजर पड़ते ही कृष्णजी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। पूछताछ करने पर पता चला कि वह सोमल एक गरीब ब्राह्मण

शक्ति उन्हें विचलित नहीं कर सकती। गजसुकुमार का संकल्प ऐसा ही था।

माता-पिता जब कुमार को समझाने-बुझाने में समर्थ न हो सके तब ममता से प्रेरित होकर उन्होंने कहा-वत्स, यदि मुनि-दीक्षा अंगीकार करनी ही है तो हमारी एक छोटी-सी बात मान लो। एक दिन के लिए राज सिंहासन पर आसीन हो जाओ। राज्य का सुख भोग लो। फिर जैसी इच्छा हो सो करना।

गजसुकुमार माता-पिता के इस आग्रह को न टाल सके। उनके कोमल हृदय में करुणा का संचार हुआ और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। घूमधाम के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ। फिर भी गजसुकुमार तो अन्तस से अलिप्त हो रहे। उनके हृदय में वह विशाल राज्य किंचित् भी आकर्षक उत्पन्न न कर सका।

दूसरे दिन माता-पिता आदि ने खूब समारोह के साथ उनकी दीक्षा करवाई, दीक्षीत होते ही, उसी दीन विशिष्ट तपः-साधन करने के हेतु गजसुकुमार मुनि अकेले ही महकाल नामक अत्यन्त भयानक श्मशान में चले गए। वहाँ उन्होंने भिक्षु की बारहवीं पडिमा अंगोकार की ध्यानारूढ़ होकर खड़े रहे। संध्या हुई और श्मशान की भयंकरता बढ़ने लगी। दिन में ही उधर कोई विरला ही मनुष्य जाता था। ऐसी दशा में संध्या को कौन जाता? अतएव वह प्रदेश सर्वथा जनहीन हो गयाथा। आसपास की गंभीर और नीरव शान्ति ने मुनि की शान्ति को और भी बढ़ा दिया।

श्मशान के प्रति लोगों में भय की भावना होती है। फिर

महाकाल श्मशान तो बड़ा ही भयंकर था किन्तु भय एक प्रकार को चित्त की दुर्बलता मात्र है जिसके चित्त में दुर्बलता नहीं है, उसके लिए भवन और श्मशान समान ही हैं। जो मनुष्य मूढ़ता वश शरीर को ही आत्मा समझता है, शरीर की क्षति को आत्मा की क्षति मानता है, जो शरीर में अहं और मम का भाव रखता है, जिसने तलवार और म्यान के समान आत्मा एवं शरीर का अन्तर नहीं समझ पाया है, उसी के चित्त में दुर्बलता होती है। इसके विपरीत जिसका देहाध्यास छूट गया है, जिसने अजर-अमर अविनाशी आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, उसके हृदय में भयका संचार नहीं होता। वह भलीभाँति जानता है की मेरी आत्मा चिदानन्दमय है, ज्योतिस्वरूप है, अमूर्त और अविनाशी है, उसका कोई कुछ भी नही बिगाड़ सकता। शस्त्र से उसका छेदन-भेदन संभव नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ उसे लेश मात्र भी विकृत नहीं कर सकता। गजसुकुमार मुनि अन्तरात्मा थे। वे शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर रहे थे। अतएव उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं था। भय होता तो स्वेच्छा से वे वहाँ क्यों जाते ?

गजसुकुमार मुनि श्मशान में ध्यान कर थे, यह कहना व्यवहार मात्र है। वस्तुतः वे अपनी ही आत्मा में लीन थे। आत्मा रूपी निर्मल सरोवर में लीन थे।

जिस ब्राह्मण की कन्या के साथ गजसुकुमार का सम्बन्ध होने वाला था, उसका नाम सोमिल था। होनहार की बात है कि सोमिल यज्ञ के लिए समिधा की खोज करता हुआ उधर ही जा पहुँचा। गजसुकुमार मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ गई। उसने मुनि को पहचान लिया। पहचानने के साथ ही उसका हृदय क्रोध की आग से सन्तप्त हो उठा। क्रोध मनुष्य को

पागल-दीवाना बना देता है। क्रोध की अवस्था में हित-अहित का, उचित-अनुचित का, तनिक भी भान नहीं रहता। ब्राह्मण सोमिल आपे से बाहर हो गया। वह अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गया।

सोमिल ने पहले तो मुनि से अनेक अपशब्द कहे। वह बोला—'अरे ढोंगी, पाखण्डी, तेरा यह आडम्बर! साधु ही बनना था तो मेरी कन्या के साथ विवाह करने को क्यों तैयार हुआ था? जब विवाह करने को तैयार हुआ था तो बिना कारण उसका परित्याग करके क्यों चला आया? क्यों मेरी कन्या की विडम्बना की? तू राजमद में अन्धा होकर समझता है कि मेरे जैसे गरीब तेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? परन्तु तू ब्राह्मण के कोप को नहीं समझता। जब ब्राह्मण कुपित होता है तो वह चाण्डाल से भी बढ़कर, साँप से भी अधिक भयंकर हो जाता है! वह मानवतन में पिशाच बन जाता है। अपने इस कथन की सच्चाई, मैं स्वयं सिद्ध करके बतलाता हूँ। तू ने मेरा और मेरी कन्या का अपमान किया है। मैं उसका भरपूर बदला लूँगा! तेरी मूर्खता का फल तुझे अभी चखाता हूँ।'

ब्राह्मण सोमिल क्रोध से काँप रहा। उसकी आँखों में खून चढ़ आया। होठ फड़कने लगे। उसका चेहरा विकृत हो उठा। क्रोध की भयंकर आग ने उसके विवेक को भस्म कर दिया। वह पास के एक जलाशय के पास गया। वहाँ से कुछ गीली और चिकनी मिट्टी ले आया। उस पिशाच ने मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बनाई। मुनि का मस्तक सिगड़ी के समान दिखाई देने लगा।

तत्पश्चात् वह पास में जलती चिता से धधकते हुए अंगारे उठा लाया और मुनिराज के मस्तक पर उंडेल दिये।

यह सब करके ब्राह्मण ने अट्टहास किया, मानों कोई अपूर्व सफलता प्राप्त कर ली हो !

कोमलगात्र गजसुकुमार मुनि की खोपड़ी धीरे-धीरे जलने लगी। आह, उस दृश्य की कल्पना मात्र आज भी हमारे हृदय को कम्पित कर देती है। शरीर में रोमांच हो जाता है ! परन्तु मुनिराज पूर्ण प्रशमभाव में निमग्न थे। उनके अन्तःकरण में अपूर्व क्षमा थी। सोमिल के प्रति उनके हृदय में क्रोध नहीं, करुणा थी। वे सोचने लगे—बेचारा अज्ञान प्राणी ! अपना ही अकल्याण कर रहा है ! मुझे मारने के विचार से आप ही मर रहा है ! मैं अमर हो रहा हूँ और यह मरने की तैयारी कर रहा है ! इसे सुबुद्धि प्राप्त हो !

मुनिराज आगे सोचते हैं—सोमिल मेरा अपकार नहीं, उपकार कर रहा है। मेरी साधना का फल, जो देर से प्राप्त होने वाला था, उसे सन्निकट ला रहा है। मुझे इसका कृतज्ञ होना चाहिए।

उधर खोपड़ी जल रही थी। उसमें से गरम-गरम रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी, पर मुनिराज अपने ध्यान से विचलित न हुए। उन्होंने इस दुस्सह परीषह को पूर्ण शान्त भाव से सहन कर लिया। वे पूरी तरह शरीराध्यास से मुक्त होकर शुद्धात्मस्वरूप में निमग्न हो गए। धीरे-धीरे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर, परम शुक्लध्यान करते हुए, घनघातिया कर्मों का क्षय करके, थोड़ी-सी देर में ही समस्त शेष कर्मों का अन्त करके सिद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त हुए।

मुनिराज गजसुकुमार की यह कथा अद्भुत क्षमा, अपूर्व सहिष्णुता और असाधारण वीरता का सजीव बोध-पाठ है। युग-युग में इससे मानव जाति को स्पृहणीय शिक्षा मिलती

रहेगी। यह कथा भारतीय साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। अपकार करने वाले के प्रति कैसी भावना रखनी चाहिए और प्राणान्तक कष्ट आ पड़ने पर भी किस प्रकार शान्ति, उदारता एवं सहिष्णुता की रक्षा करनी चाहिए, यही इस कथा का रहस्य है। जो मनुष्य अपने जीवन को इस पावन कथा के सांचे में डालने का प्रयत्न करेगा, निस्सन्देह वह सब प्रकार के दुःखों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा।

卐

घड़ी

आजकल घड़ियों का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि उसका परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत होती। आज हमारा जीवन ही इस ढंग का बन गया है कि घड़ी के बिना प्रायः काम ही नहीं चलता। सफर करना हो तो रेलगाड़ी के आने और छूटने का समय मालूम होना चाहिए। न मालूम हो तो या तो घंटों पहले पहुँच कर समय नष्ट करो या देर से पहुंच कर गाड़ी चूको! आजकल किराये की मोटरें भी प्रायः नियत समय पर रवाना होती है। उनकी रवानगी का समय भी मालूम होना चाहिए। समय मालूम हो जाने पर अगर हमारे पास घड़ी नहीं है तो कैसे पता चलेगा कि कब वह नियत समय आ रहा है? उसे जानने का उपाय तो घड़ी ही है। घड़ी पास में हो तो ठीक समय पर सब काम किये जा सकते हैं और समय की काफी बचत की जा सकती है। घड़ी होने से अनेक परेशानियां कम हो जाती हैं।

आजकल आभूषण के रूप में भी घड़ी का उपयोग होने

लगा है। अनेक पुरुषों और स्त्रियों की कलाई पर बंधी हुई घड़ियां शोभा के लिये होती हैं। भले ही वे शोभा के लिए हों और लगाने वालों की शोभा बढ़ाएं, फिर भी घड़ी की जो उपयोगिता है, वह कम नहीं होती। बल्कि इससे वह बढ़ ही जाती है।

प्राचीन काल में जब आजकल जैसी घड़ियों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब भी लोग समय के ज्ञान की उपयोगिता समझते थे। उन्होंने समय को जानने के लिए दूसरे तरीके निकाल रक्खे थे। बहुत से लोग अपनी छाया की लम्बाई का नाप करके समय का ज्ञान कर लेते थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्थानों पर धूप घड़ियां भी लगी होती थीं। उनसे भी समय का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती थी। जैन समाज में सामयिक का काल जानने के लिए रेत की घड़ियां बहुत प्रचलित थीं, जिनका आजकल भी बूढ़ी औरतें उपयोग करती हैं। परन्तु अब उनका चलन कम हो गया है, क्योंकि लगभग सभी धर्म स्थानों में दीवाल-घड़ियां लगी रहती हैं और उनसे काम चल जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक घड़ियों का आविष्कार मनुष्य जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। घड़ी से समय सम्बन्धी इतनी सुविधाएँ हो गई हैं, जितनी पहले नहीं थीं। आज घड़ी के द्वारा मिनिट-मिनिट और सैकिंड-सैकिंड का अन्तर समझा जा सकता है!

घड़ी की सब से बड़ी उपयोगिता जीवन में अनियमितता आ जाना है। जो मनुष्य घड़ी अपने पास रखकर अपने जीवन को नियमित बना लेता है, समझना चाहिए कि उसने घड़ी

रखने का वास्तविक लाभ उठा लिया है। नियमितता का अर्थ है-प्रत्येक कार्य नियत और उचित समय पर करना। जो इस प्रकार नियमित हो जाता है, वह अपने छोटे-मोटे सभी कार्य यथासमय सम्पन्न कर लेता है। उसके किसी भी कार्य की हानि नहीं होती और किसी कार्य में व्यर्थ समय नष्ट नहीं होता। उसे फुर्सत न मिलने की कभी शिकायत नहीं रहती। नियमितता के अभाव में पैसे भर काम न होने पर भी पल भर का अवकाश नहीं मिलता!

बुद्धिमान् पुरुष अविश्रान्त गति से चलती रहने वाली घड़ी से और भी बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। वे यह सोचते हैं कि सतत गति से चलने वाली घड़ी हमें सावधान कर रही है कि-ऐ मनुष्य तेरा जीवन भी इसी प्रकार निरन्तर चलता जा रहा है। जीवन की घड़ी भी कभी स्थिर नहीं रहती और जो घड़ी व्यतीत हो जाती है, वह कदापि वापिस नहीं आती। अतएव अपने जीवन की सफलता के लिए जो कुछ भी करना है, शीघ्र ही कर लें। जो अवसर आज मिला है, वह फिर कभी नहीं मिलेगा।

घड़ी को दो भागों में बांटा जा सकता है-बारह के निशान से छह तक के निशान का एक भाग और छह के निशान से लेकर बारह के निशान तक दूसरा भाग। जब घड़ी के कांटे पहले भाग पर होते हैं तो उनका अवसर्पण होता है, अर्थात् वे नीचे की ओर जाते हैं और जब दूसरे भाग पर होते हैं तो उनका उत्सर्पण अर्थात् वे ऊपर की ओर जाते हैं। घड़ी के ये दोनों विभाग कालचक्र के अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त करते हैं, साथ ही–

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा, चक्रनेमिक्रमेण"

के कथन को भी प्रकट करते हैं। हमारे जीवन की दशाएँ भी

चन्दन वाला को रथी के कथन से कुछ सानत्वना मिली। इसके पश्चात रथी ने आस पास से सूखे काष्टों का संग्रह किया और रानी धारिणी के निर्जीव शरीर का - दाह-संस्कार किया।

रथी ने अब जंगल में ठहरना अनुचित समझ कर रथ जोता और कौशाम्बी की तरफ प्रस्थान किया। यथा समय वह अपने घर जा पहुँचा। रथी की स्त्री ने चन्दन वाला को देखी उसका हृदय इर्षा,द्वेष और आशंका से व्याप्त हो गया। उसने सोचा-यह सुनकर छोकरी एक दिन मेरे सुख पर पानी फेर देगी। उसने रथी से प्रश्न किया—यह कौन है ?

रथी—चम्पा की राजकुमारी।

स्त्री—इसे साथ लाने का प्रयोजन ?

रथी चुप ! उत्तर क्या देता ? अतएव उसने प्रश्न की उपेक्षा करते हुए अपनी सफाई में कहा—चिन्ता न करो प्रिये, राजकुमारी के प्रति मेरे मन में कोई मलीन भाव नहीं है। वह मेरे लिए लड़की के समान है !

रथी की पत्नी सोच-विचार में पड़ गई। उसे अपने पति के आश्वासन पर विश्वास न हो सका। उसकी समझ में नहीं आता था कि पति बहिन-बेटी बनाने के लिए चन्दनवाला को लाया है ? उसे दाल में काला दिखाई देता था ! ज्यों-ज्यो वह सोचती गई, उसकी अशंका भी बढ़ती गई। उसे विश्वास हो गया–किसी न किसी दिन यह लड़की मेरे लिए सिरदर्द बन जाएगी। इसके अंग-अंग में जो अपूर्व लावण्य है, वह शीघ्र ही विकसित हो जाएगा और मेरे पति उस पर रीझ जाएंगे ! यह मेरी सौत बन जाएगी और मेरा जीवन मिट्टी में मिल जायगा। समय रहते ही उपाय कर लेना उचित है। अपने आंगन में विष की बेल उगाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

इस प्रकार सशंक होकर स्त्री को पत्नी ने उससे कहा—मैं पराई लड़की को अपने घर में नहीं रहने दूंगी। रहेगी तो अशान्ति होगी। पर-नारी पैनी छुरी कहलाती है। उससे दूर रहना ही योग्य है। आप इसे घर से फौरन निकाल दें। जब तक घर में रहेगी, मैं आपको घर में पैर न रखने दूंगी। खूबसूरत छोकरी है। बाजार में ले जाकर बेच देंगे तो अच्छी सम्पत्ति हाथ लगेगी और घर भी बना रहेगा।

रथी ऐसा करने को तैयार नहीं था। किन्तु जब उसने देखा कि उसकी पत्नि हठ पर तुल गई है और दूसरा कोई मार्ग नहीं है तो निरुपाय होकर उसे बात माननी पड़ी।

उधर मनस्विनी चन्दनबाला भी रथी-पत्नी की दुर्भावना तथा दुर्व्यवहार से अतिशय खिन्न थी। घोर अपमान के साथ रहना उसे भी पसंद न आया। वह भी यही चाहती थी कि किसी प्रकार मैं इस घर से बाहर हो जाऊँ।

चन्दनबाला के कष्टों का अन्त नहीं आया था। अथवा यों कहना चाहिए कि एक के बाद दूसरा कष्ट आकर उसके जीवन का निर्माण कर रहा था जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक हो रहा था, क्योंकि कष्ट सहन किये बिना जीवन की ऊँचाई प्राप्त नहीं हो सकती।

[२]

चन्दन बाला! चम्पा की राज कुमारी! सुख में जन्मी, सुख में पली और सुख में बड़ी हुई! जिसने कुछ दिनों पहले तक जाना ही नहीं था कि दुःख क्या वस्तु है, आज घोर दुःख का शिकार हो रही थी। दैव की गति बड़ी विचित्र है।

पशुओं के बाजार में पशु खड़े रहते हैं। ग्राहक आता है, मोलतोल करता है। सौदा पटने पर रुपया गिन कर पशु को अपने साथ ले जाता है। आज चन्दनबाला की भी यही स्थिति थी। वह पशु की भांति बिकने को खड़ी की गई थी। ग्राहक आते

थे और प्रशंसा सुनकर चले जाते थे। जाते तो ऐसा लगता था कि चन्दन बाला अप्सराओं को भी लज्जित कर देने वाले रूप-वैभव से सम्पन्न थी। साधारण उसे देख कर लोग चकित रह जाते थे। सभी उसे खरीद लेने की इच्छा करते, परन्तु मूल्य की अधिकता अनुभव कर चले जाते थे।

तब एक वेश्या वहां आई। उसने राजकुमारी के सर्व-निखलित सौन्दर्य को देखकर सोचा—इस बाला का कुछ ही मूल्य क्यों न हो, अधिक नहीं हो सकता। भाग्य अनुकूल हुआ तो इसके द्वारा अल्प समय में ही अपरिमित धन उपार्जन किया जा सकेगा। यह सौदा किसी भी भाव में महंगा नहीं पड़ेगा।

वेश्या ने मुंह मांगा मोल देकर चन्दनबाला को खरीद लिया। रथी यथेष्ट धन पाकर प्रसन्न था और वेश्या अनुपम सुन्दरीबाला को पाकर हर्ष का अनुभव कर रही थी। परन्तु चन्दनबाला को पता नहीं था कि मुझे कौन और किसलिए खरीद रहा है? जब वेश्या उसे अपने साथ ले जाने लगी तो भोली कुमारी ने पूछा-मां, तुम किस अभिप्राय से मुझे ले चल रही हो?

वेश्या—बेटी, घर पहुंचकर सब बतला दूंगी।

चन्दन बाला-नहीं, अभी बतला दीजिए। छिपाने योग्य बात नहीं है तो यहीं कहने में क्या हानि है?

वेश्या-मगर इतनी उतावली क्यों हो रही है? तुझे कुछ भी कष्ट न होगा। संसार के श्रेष्ठ मजे लूटना।

यह शब्द सुनकर चन्दना चौंक उठी उसका मन शंकित हो गया। उसने कहा-देखिए माताजी, आप अपने उद्देश्य को साफ-साफ शब्दों में बतला दीजिए। आप क्या चाहती हैं?

वेश्या—अरी पगली, समझ ले कि तेरा भाग्य चमक उठा है। नित्य नया शृंगार सजना और लोगों को उल्लू बनाना तेरा काम होगा। बड़े-बड़े राजा-रईस तेरी सेवा करेंगे। तू बिना राज्य की महारानी होगी। समझ गई न ?

चन्दनबाला ने कहा—समझी; पर तुमने मुझे खरीद कर भूल की है। तुम्हारा उद्देश्य मैं पूरा नहीं कर सकूंगी। मुझे छोड़ दो।

वेश्या—छोड़ कैसे दूंगी ! मुंह मांगा मोल दिया है।

चन्दनबाला का रोम-रोम कांपने लगा। उसने सोचा मैं भयानक संकट में फँस गई हूं। रथी के चंगुल से छूटी तो वेश्या के जाल में पड़ गई। भगवान् न जाने किस पाप-कर्म का फल भोगना पड़ रहा है। कुछ भी हो, माता का उदाहरण मेरे सामने है। प्रत्येक परिस्थिति में मैं अपने धर्म की रक्षा करूंगी।

चन्दनबाला ने सुना था कि शीलरक्षक देव भी होते हैं। उसने उनका स्मरण किया—"हे शीलरक्षक देव ! असहाय और अनाथ कन्या के शील की रक्षा करना तुम्हारे हाथ में हैं। इस विकट अवसर पर अगर सहायक न हुए तो तुम्हारा उपयोग क्या होगा ? तुम्हें शील प्यारा हो तो मेरा उद्धार करो।"

इस प्रकार मन ही मन कह कर चन्दना सती णमोकार मंत्र का जाप करने लगी। उसके हृदय में प्रगाढ़ धर्मश्रद्धा थी। मन कहता था कि देवता अधिक देर सोये नहीं रहेंगे और मेरा उद्धार अवश्य होगा।

सचमुच ऐसा ही हुआ। अचानक एक वानर सेना वेश्या पर टूट पड़ी। उसने वेश्या को घेर लिया। किसी ने उसकी नाक नोंच ली, किसी ने कान काट लिया ! किसी ने चोटी पकड़ कर

खींचना आरंभ किया और किसी ने गालों पर चांटे जड़ दिये ! इस दैवी घटना से वेश्या बुरी तरह घबरा उठी। बोली—बाप रे बाप ! मुझे इस छोकरी से कोई मतलब नहीं। मेरी जान बचे और मैं घर का रास्ता नापूं।

वानर-सेना जिस प्रकार अचानक प्रकट हुई थी, उसी प्रकार अचानक गायब भी हो गई। वारांगना जान बचा कर भाग गई। चन्दनबाला फिर रथी के अधिकार में आ गई। रथी किसी अन्य ग्राहक की टोह में बाजार में खड़ा रहा। चन्दनबाला के धैर्य का संचार हो गया था। वह निर्भय भाव से खड़ी अपने भाग्य की प्रतीक्षा कर रही थी। मन ही मन भगवान् का जाप करती जाती थी।

इसी समय एक जिनेन्द्रभक्त सेठ उधर से निकले। चन्दनबाला पर उनकी नज़र पड़ी। चन्दनबाला के सौम्य एवं शान्त मुखमण्डल पर अपूर्व सात्विकता थी। पवित्र गंभीरता स्पष्ट लक्षित होती थी। सहज ही समझा जा सकता था कि यह कन्या उच्च कुल की है और सद्गुणवती है। सेठ की अनुभवी आँखों से उसकी उच्चता छिपी न रही। पास आकर उसने रथी से वार्त्तालाप किया और चन्दनबाला को खरीद लिया। चन्दनबाला ने भी सेठ को विश्वासपात्र व्यक्ति समझ कर पूछा—महानुभाव, आपके घर मुझे क्या काम करना पड़ेगा ?

सेठ—बेटी, मेरे यहाँ सम्पत्ति है, सन्तति नहीं। भरा घर भी सन्तान के अभाव में सूना है। उसे भरने के लिए तुझे ले जाना चाहता हूँ। वहां तुझे कुछ नहीं करना है। इच्छानुसार भोजन करना, वस्त्र पहनना, भगवान् महावीर द्वारा कथित धर्म का आचरण करना और इस प्रकार निर्जीव गृह को सजीव बनाना तेरा काम होगा। तू मेरी बेटी मैं तेरा पिता।

सेठ का उत्तर सुनकर चन्दनबाला सन्तुष्ट हो गई। वह प्रसन्नतापूर्वक सेठ के साथ चल दी।

[२]

घर पहुँच कर सेठ ने अपनी पत्नी मूला को चन्दनबाला को खरीद लाने का वृत्तान्त बतलाते हुए कहा—यह तो अत्यन्त सुशील, गुणवती, कुलीन और धर्मनिष्ठ है। इसके साथ बेटी सरीखा व्यवहार करना।

मूला सेठानी में भी महिला-सुलभ दुर्बलता और संकीर्णता मौजूद थी। उसने पति के कथन एवं आदेश का विरोध तो नहीं किया, परन्तु चन्दनबाला के अनुपम लावण्य को देखकर वह सशंक हो उठी। सोचने लगी—आज सेठजी इसे अपनी पुत्री समझते हैं, पर मनुष्य के मन का क्या भरोसा? वह सदा एक सरीखा नहीं रहता। क्षण-क्षण में पलटता रहता है। इस लड़की का सौन्दर्य जब खिल उठेगा तो क्या जाने सेठजी का मन ऐसा ही रहेगा या नहीं? कदाचित् बदल गया तो मेरी क्या दशा होगी? मैं कहीं की भी नहीं रहूँगी!

इस विचार के कारण मूला सेठानी सतर्क और शंकित रहने लगी। उसने कोई अनुकूल अवसर पाकर चन्दनबाला का पतंग काट देने का निश्चय कर लिया। यद्यपि ऊपर से वह अच्छा व्यवहार करती थी, किन्तु उसके पेट में पाप बना हुआ था वह सेठ और चन्दना की प्रत्येक चेष्टा को बारीक नजर से देखा करती थी!

एक बार सेठ धनावह घर से बाहर निकले। वह अपना काम समाप्त करके जब घर की ओर लौट रहे थे, तब उनका पैर गोबर पर पड़ गया। घर आकर उन्होंने सेठानी को इधर-उधर

देखा, पर [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] उसी से [illegible] कहा—बेटी, जरा पानी तो ला दे, पैर धो लूं ।

चन्दनबाला—पिताजी आप इधर ही आ जाइए । मैं पैर धो दूंगी ।

सेठ सहज भाव से वहीं चले गये । दोनों में से किसी के हृदय में कोई कपट भाव न था । अतएव चन्दनबाला बिना हिचकिचाहट धनावह के पैर धोने लगी । पैर धोते समय उसके खुले हुए केश आंखों के आगे आ जाते और परेशान करते थे । पैरों में लगे गोबर से चन्दनबाला के हाथ भर गये थे, अतएव वह उन्हें हटाती तो बालों में गोबर लगने का भय था । अतएव वह बालों को इधर-उधर करने के लिए मस्तक को इधर-उधर हिलाती थी । धनावह सेठ ने अपनी धर्म बेटी की यह परेशानी दूर करने के लिए अपने हाथों से उसके केश को एक किनारे कर दिये । मूला सेठानी कहीं छिपी इस घटना को सशंक भाव से देख रही थी । उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा स्थान शीघ्र ही यह छोकरी ले लेगी ।

अकारण सन्देह अनर्थों का कारण होता है । उससे कभी-कभी परिवार में तीव्र विसवाद उत्पन्न हो जाता है । कई बार घर मिट जाते हैं । भाई-भाई में भयानक शत्रुता उत्पन्न हो जाती है । एक दूसरे के प्राण ले लेता है ।

यहां भी यही हुआ । मूला सेठानी को सेठ की बदनीयति का प्रबल प्रमाण मिल गया ! चन्दनबाला उसे सर्पिणी के समान विषैली दिखाई देने लगी । वह इसी फिराक में रहती

कि कोई अच्छा अवसर मिले और चन्दन बाला को अपने रास्ते से हटा दूं ! मगर सरल हृदया चन्दना को इस बात का पता नहीं था।

सेठानी को मनचाही करने का मौका मिल गया। सेठ धनावह दूसरे गांव गये। सेठानी ने इस अवसर का लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। सेठ के जाते ही मूला ने अपनी विश्वस्त दासियों को बुलाया और उन्होंने अपना अभिप्राय बतला दिया। दासियों ने चन्दन बाला को पकड़ा और सबसे पहले उसके मस्तक के केश कतर डाले ! उसके बाद हथकड़ियों-बेड़ियों से उसके हाथ-पैर जकड़ दिए। चन्दनबाला विस्मय में थी। बहुत सोच-विचार करने पर भी उसे अपना कोई अपराध स्मरण नहीं आया। तब उसने मूला सेठानी की ओर करुणापूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—माताजी, बतलाइए तो, मेरा क्या अपराध है ? मैं आपकी बेटी हूं। आप मातृधर्म का क्यों उल्लंघन कर रही हैं ? निष्कारण मुझे सताने से आपको क्या मिल जाएगा ?

मगर चन्दनबाला की पुकार अरण्यरोदन सिद्ध हुई। धनावह की अनुपस्थिति में कोई उसकी सुनने वाला नहीं था। किसी को उस पर दया भी न आई। मूला के हृदय में ईर्षा की जो प्रबल आग धधक रही थी, चन्दनबाला को वह उसी में भस्म कर देना चाहती थी।

चन्दनबाला ने देखा कि अब मेरी रक्षा का कोई साधन नहीं है। वह भगवान् का स्मरण करती हुई धैर्य धारण करके शान्त हो गई। सोचने लगी—मेरे अशुभ कर्मों का अभी तक अन्त नहीं आया। अच्छा है, माथे पर जो ऋण चढ़ा है, उसकी एक किश्त अब चुक रही है। चुकना ही अच्छा है।

हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना कर मूला की दासियों ने उ[से] मकान के सबसे नीचे के कमरे में पटक दिया। चन्दनबाला [ने] सेठानी पर तनिक भी रोष न करके अपने कर्मों को ही इ[स] घटना के लिए उत्तरदायी समझा। अन्धकारपूर्ण तल-घर [में] पड़ी चन्दनबाला ने आत्मशुद्धि के लिए तेले का तपश्चर[ण] धारण कर लिया। वह परमात्मा के भजन एवं स्मरण में [ही] अपना समय व्यतीत करने लगी।

इस घटना के उत्तरदायित्व से बचने के लिए मूल[ा] सेठानी अपने पीहर चली गई।

तीन दिन व्यतीत होने के बाद धनावह सेठ लौट क[र] आये। आते ही उन्होंने चन्दनबाला का स्मरण किया। मग[र] वह कहीं दिखाई न दी। दास-दासियों से पूछा तो उन्होंने भी ठीक उत्तर न दिया। सब अनजान बन गये। निराश हो से[ठ] [illegible] हवेली के कमरे कमरे में उसकी तलाश करने लगे। [illegible] उसी भूभाग में पहुँचे, जहाँ चन्दना पड़ी [illegible] की ध्वनि सुनाई दी। [illegible] कौन? बेटी चन्दना है क्या?

[illegible] तीन दिन की भूखी-प्यासी थी। [illegible] [illegible] न दे सकी। [illegible] [illegible] आपकी अभागिनी पुत्री!

[illegible]

[illegible]

कारण दूसरा कोई नहीं, मैं स्वयं हूं. मगर पिताजी, दूसरी बातें फिर करेंगे। इस समय भूख के मारे प्राण तिल-मिला रहे हैं। प्यास से तालु सूख रहा है। तत्काल कुछ खाने-पीने को मिल जाय तो प्राण बच जाएं।

धनावह—अच्छा, अभी प्रबंध करता हूं। मैं सोचता था कि पहले लुहार के घर जाकर यह हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ कटवा दूं। इस बन्धनबद्ध स्थिति में तुझे देखना मेरे लिए असह्य है।

चन्दना—आपके अनुग्रह को ऋणी हूं। परन्तु पहले पेट में कुछ जाय तो अच्छा है।

सेठ धनावह खाद्य पदार्थ की खोज में घर छानने लगे, पर उन्हें उड़द के बाकलों के सिवाय और कुछ भी न मिला। वह बाकले घोड़ों के लिए पकाये गये थे। वही बाकले एक सूप में चन्दनबाला के सामने रखकर धनावह सेठ लुहार को बुलाने चले चलते-चलते कह गए—बेटी, चिन्ता न करना मैं अभी आता हूँ।

पहले ही कहा जा चुका है कि चन्दनबाला की आत्मा में धार्मिकता के गहरे संस्कार थे। इसी कारण असह्य भूख-प्यास से पीड़ित होने पर भी उसने एक भी दाना मुँह में न डाला, न एक घूंट पानी पीया। आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर वह किसी साधु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। वास्तव में ऐसे अवसरों पर ही मनुष्य की प्रतीक्षा धर्म-निष्ठा की परीक्षा होती है। चन्दनबाला इस परीक्षा में सफल सिद्ध हुई। उसने असीम धैर्य रखकर मुनिराज की प्रतीक्षा की।

पता नहीं, चन्दनबाला का आत्मबल कितना प्रबल था! उसकी भावना में क्या आकर्षण और चमत्कार था! तीर्थंकर

हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना कर मूला की दासियों ने उसे मकान के सबसे नीचे के कमरे में पटक दिया। चन्दनबाला ने सेठानी पर तनिक भी रोष न करके अपने कर्मों को ही इस घटना के लिए उत्तरदायी समझा। अन्धकारपूर्ण तल-घर में पड़ी चन्दनबाला ने आत्मशुद्धि के लिए तेले का तपश्चरण धारण कर लिया। वह परमात्मा के भजन एवं स्मरण में ही अपना समय व्यतीत करने लगी।

इस घटना के उत्तरदायित्व से बचने के लिए मूला सेठानी अपने पीहर चली गई।

तीन दिन व्यतीत होने के बाद धनावह सेठ लौट कर आये। आते ही उन्होंने चन्दनबाला का स्मरण किया। मगर वह कहीं दिखाई न दी। दास-दासियों से पूछा तो उन्होंने भी ठीक उत्तर न दिया। सब अनजान बन गये। विवश हो सेठ अपनी हवेली के कमरे-कमरे में उसकी तलाश करने लगे। तलाश करते-करते वे उसी भूभाग में पहुँचे, जहाँ चन्दना पड़ी थी। उन्हें एक हल्की सी कराहने की ध्वनि सुनाई दी। तब चौंक कर सेठ ने कहा—कौन ? बेटी चन्दना है क्या ?

चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी थी। मुँह सूख रहा था। अतएव वह स्पष्ट रूप से उत्तर न दे सकी। क्षीण स्वर में बोली—जी हाँ, पिताजी, मैं ही हूँ आपकी अभागिनी पुत्री !

सेठ के हृदय को गहरा आघात लगा। उन्होंने दुःखित स्वर में कहा—तू यहाँ कैसे चन्दना ?

चन्दना—पिताजी, कुछ न पूछिए। कर्मगति बड़ी ही गहन है। न जाने किस जन्म में क्या पाप-कर्म मैंने किये थे, जिसके फलस्वरूप इस जीवन में यह दशा हो रही है। मेरे दुःखों का

कारण दूसरा कोई नहीं, मैं स्वयं हूँ, मगर पिताजी, दूसरी बातें फिर करेंगे। इस समय भूख के मारे प्राण तिल-मिला रहे हैं। प्यास से तालु सूख रहा है। तत्काल कुछ खाने-पीने को मिल जाय तो प्राण बच जाएं।

धनावह—अच्छा, अभी प्रबंध करता हूँ। मैं सोचता था कि पहले लुहार के घर जाकर यह हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ कटवा दूँ। इस बन्धनबद्ध स्थिति में तुझे देखना मेरे लिए असह्य है।

चन्दना—आपके अनुग्रह को ऋणी हूँ। परन्तु पहले पेट में कुछ जाय तो अच्छा है।

सेठ धनावह खाद्य पदार्थ की खोज में घर छानने लगे, पर उन्हें उड़द के बाकलों के सिवाय और कुछ भी न मिला। वह बाकले घोड़ों के लिए पकाये गये थे। वही बाकले एक सूप में चन्दनबाला के सामने रखकर धनावह सेठ लुहार को बुलाने चले चलते-चलते कह गए—बेटी, चिन्ता न करना मैं अभी आता हूँ।

पहले ही कहा जा चुका है कि चन्दनबाला की आत्मा में धार्मिकता के गहरे संस्कार थे। इसी कारण असह्य भूख-प्यास से पीड़ित होने पर भी उसने एक भी दाना मुँह में न डाला, न एक घूंट पानी पीया। आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर वह किसी साधु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। वास्तव में ऐसे अवसरों पर ही मनुष्य की प्रतीक्षा धर्म-निष्ठा की परीक्षा होती है। चन्दनबाला इस परीक्षा में सफल सिद्ध हुई। उसने असीम धैर्य रखकर मुनिराज की प्रतीक्षा की।

पता नहीं, चन्दनबाला का आत्मबल कितना प्रबल था ! उसकी भावना में क्या आकर्षण और चमत्कार था ! तीर्थंकर

ध्वनि से दिशाएँ गूंज उठीं। चन्दनबाला के सौभाग्य की चारों ओर सराहना होने लगी। लगभग छह मास से निराहार प्रभु ने आज आहार ग्रहण किया, यह प्रसन्नता का प्रसंग था और जिस अद्भुत वातावरण में आहार लिया, वह बड़ा ही कुतूहलजनक था।

सेठ धनावह लुहार को लेकर पहुँच भी नहीं पाये थे कि चन्दनबाला का उद्धार हो गया। जब उन्हें यह समाचार मिले तो वे दौड़े आये। आज उनके हर्ष का पार न था।

मूला सेठानी के कानों में भी सोना बरसने की खबर पड़ी। वह उस सोने को समेट लेने के लिए दौड़ी आई। आते ही उसने कहा—'देखो एक भी स्वर्णमुद्रा किसी ने उठा ली तो ठीक नहीं होगा!' चन्दनबाला के सामने वह लज्जित भी हो रही थी। सोचती थी—कहीं ऐसा न हो कि यह मेरी करतूत का भंडाफोड़ कर दे। अन्यथा मैं जनता और सेठ की दृष्टि में गिर जाऊंगी! फिर भी वह बड़ी शीघ्रता से स्वर्ण-मुद्राएं समेट रही थी।

स्वर्णमुद्राएँ समेट लेने के बाद सेठानी ने चन्दनबाला से कहा—बेटी, तू बड़ी समझदार और शान्त है। मेरे किये का बुरा न मानना। मुझसे बड़ी भूल हुई, परन्तु उसका परिणाम अच्छा ही निकला।

चन्दनबाला ने सदैव की भांति विनयपूर्वक कहा—माताजी, यह सब आपका ही पुण्यप्रताप है। आपने यह व्यवहार न किया होता तो तीन भुवन के नाथ भगवान् को आहार देने का महान् पुण्य प्रसंग मुझे कैसे मिलता? भगवान् के निराहार रहने से सभी लोग चिन्तित थे। संकट-सा छाया था। आपकी कृपा से भगवान् को आहार मिला और सहस्रों धर्म-

त्माओं की चिन्ता दूर हुई। अतएव आप चित्त में संताप न करें। हाँ इतना अवश्य कहना चाहती हूँ कि अपने मन में, मेरे प्रति किसी प्रकार की कुशंका न रक्खें। मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

भगवान् के आहार-ग्रहण की घटना महत्त्वपूर्ण थी। सर्वत्र उसकी चर्चा होने लगी। कौशाम्बी-नरेश शतानीक और रानी मृगावती को भी यह समाचार विदित हुए। चन्दनबाला के विषय में भी उन्हें जानकारी हुई। वह समझ गये कि यह चन्दनबाला दूसरी कोई नहीं, मेरे साढ़ू राजा दधिवाहन की सुपुत्री ही है। यह जानकर दोनों उसके पास आये। राजा ने कहा—'बेटी, मेरा अपराध क्षमा कर। अब तक मुझे पता ही न था कि तू यहाँ है।'

रानी मृगावती ने उसे अपनी गोद में बिठा लिया उसके नेनों से आँसू बरसने लगे। मृगावती बोली—बिटिया चन्दना, मैं तेरी मौसी हूँ! तू मेरी बहिन की बेटी है। मेरे रहते तुझे इतने संकट सहने पड़े!

आखिर चन्दनबाला राजा-रानी के साथ महल में चली गई। शतानीक ने महाराज दधिवाहन की खोज करवाई। [illegible] आदर-सम्मान के साथ कौशाम्बी में बुलाया गया। [illegible] अपने पिता से मिली, उस समय का दृश्य अद्-भुत था। [illegible] माता के प्राणत्याग की करुणा [illegible] के नेत्रों से आँसू बरसने लगे। दधिवाहन [illegible] के साथ अपने हृदय को संभाला।

[illegible] शतानीक के [illegible] आग्रह के कारण [illegible] स्वीकार करना पड़ा। वह

चन्दनवाला के साथ चम्पा गये । दधिवाहन ने जब विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया तो चन्दनवाला ने कहा— पिताजी, मैं संसार से ऊब गई हूँ । विवाह करने-कराने की मेरी रुचि नहीं । अनन्त जन्मों में अनन्त विवाह किये, किन्तु किसी से स्थायी शान्ति का लाभ नहीं हुआ । संसार का प्रत्येक सुख, परिणाम में घोर दुःख का ही कारण सिद्ध हुआ है । इस बार महान् सौभाग्य से भगवान् महावीर जैसे महान् उद्धारक इसी भूतल पर विचरण कर रहे हैं । आत्म-कल्याण का यह सुअवसर अत्यन्त दुर्लभ है । मैं इस अवसर से लाभ उठाना चाहती हूँ । अतएव आप मेरे विवाह के संबंध में कुछ भी विचार न करें । मैं अपना जीवन प्रभु की सेवा में समर्पित करूँगी ।

चन्दनवाला धर्मध्यान करती हुई विरक्त भाव से समय व्यतीत करने लगी । वह अब जल-कमल के समान राजमहल में रहती हुई भी अलिप्त एवं अनासक्त ही रहती थी ।

यथासमय भगवान् महावीर ने केवल ज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की । चन्दनवाला प्रथम महिला थी जो भगवान् के निकट दीक्षित हुई । उन्हीं से भगवान् महावीर का भिक्षुणी-संघ आरंभ हुआ । दीक्षित होकर चन्दनवाला महासती ने यथाशक्ति तपश्चरण किया और ज्ञान का अभ्यास किया । वही भिक्षुणी संघ की नायिका बनीं । उसके बाद जो भी महिलाएँ दीक्षित हुईं, सभी उनकी नेश्राय में रहीं । धीरे-धीरे वह छत्तीस हजार साध्वियों की नेत्री बन गईं ।

अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने विशिष्ट

झंडा

झंडा, ध्वजा या पताका का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। कौन ऐसा आदमी है जिसने तरह-तरह के झंडे न देखे हों? प्रत्येक देश का अलग-अलग झंडा होता है। देश में भी अलग-अलग दलों के अलग-अलग झंडे होते हैं। दल भी अनेक प्रकार के होते हैं। राजनीतिक दल जैसे- कांग्रेस, प्रजासमाजवादी दल, साम्यवादी दल आदि। धर्म और सम्प्रदायों को लेकर भी दल बनते हैं। इन सब के झंडे भी अलग-अलग ही होते हैं।

प्रत्येक राष्ट्र और दल अपनी नीति, अपने ध्येय और अपने मार्ग के अनुसार अपने झंडे का स्वरूप निर्धारित करता है। अतएव किसी दल के झंडे को देख कर उसकी नीति का अनुमान लगाया जा सकता है।

वास्तव में झंडा दल- विशेष की भावनाओं का प्रतीक होताहै। उस झंडे के रूप में दल की शक्ति केन्द्रित होती है। इसकारण प्रत्येक दल अपने झंडे को पवित्र मानता है और उसकी प्रतिष्ठा के हेतु अपने प्राण देने तक को तैयार हो जाता है। झंडे का अपमान, उस देश या दल का ही अपमान समझा जाता है, जिसका वह झंडा होता है।

जब किसी दल या देश का झंडा फहराया जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि उस दल या देश की नीति के प्रति आस्था प्रकट की जा रही है। अतएव जो व्यक्ति किसी झंडे के नीचे आगया है, अर्थात् जिसने जिस झंडे को अपनी भावनाओं का प्रतीक मान लिया है, उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहे और उस झंडे को अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् समझे।

जैन समाज एक महान् धर्म का प्रतिनिधि है। उसके अपने सिद्धान्त हैं और वे सिद्धान्त पवित्र और उन्नत हैं। उनमें मानवजाति का त्राण करने की शक्ति है। वे मनुष्य को शाश्वत कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करने वाले हैं। ऐसी स्थिति में समग्र जैनसमाज का एक सर्वसम्मत झंडा होना ही चाहिए। समय-समय पर इस सम्बन्ध में बात उठती है। क्या हम आशा करें कि सामर्थ्यशाली जैनसमाज शीघ्र ही एक निर्णय पर आकर अपने पवित्र झंडे का स्वरूप निश्चित कर लेगा और उसकी पवित्र छाया में एकत्र होकर वीतराग के शासन के प्रचार और प्रसार में जुट जायगा?

卐

टहल

कहावत है—'करे सेवा सो पावे मेवा।' इस छोटी-सी कहावत में बहुत बड़ी बात कह दी गई है। वास्तव में सेवा या टहल करने वाले को महान् फल की प्राप्ति होती है।

परलोक संबंधी फल की बात को छोड़ भी दें और सिर्फ इसी जीवन की दृष्टि से विचार करें तो भी टहल अर्थात्

[illegible]

प्रभव को जब कुछ न सूझा तो वह आगे से आने वाली आवाज के सहारे-सहारे आगे चला। वह [illegible] पैरों की आहट किये बिना ही उस कमरे के बाहर आ पहुंचा, जहां जम्बूकुमार अपनी पत्नियों से वार्तालाप कर रहे थे और दीक्षा न लेने के उनके आग्रह के बदले में उन्हें वैराग्य की उपादेयता समझा रहे थे। जम्बूकुमार कह रहे थे—भद्र नारियो! जरा विचार तो करो कि अनादि काल से अब तक भोग भोगने पर भी यह आत्मा तृप्त नहीं हुई तो इस जन्म के भोगों से कैसे तृप्त हो जाएगी? भोग, वासना के ईंधन हैं। भोग भोगने से वासना मिटती नहीं, अधिक उग्र होती है। वासना को जीतने का एक मात्र मार्ग संयम है—इन्द्रियनिग्रह है आत्मविजय है। यह अनन्त सुख का सन्मार्ग है। इन कुत्सित और वीभत्स कामभोगों के कीचड़ में पड़कर जीवन को नष्ट करना बुद्धिमत्ता नहीं है। तुम कहती हो कि कुछ दिनों तक भोग भोगने के पश्चात् संयम धारण करना योग्य है; परन्तु यह तो सोचो कि इस जीवन का क्या विश्वास है? कौन जानता है कि कौन मनुष्य कितनी आयु बाँधकर आया है? काल समदर्शी है। उसके लिए बालक वृद्ध सब एक ही समान हैं। ऐसी स्थिति में भविष्य का भरोसा करके बैठना कहाँ तक उचित है?

थोड़ी देर के मान लें कि हमारा जीवन शीघ्र समाप्त नहीं होगा, तो भी भोग भोग कर पाप-कर्मों की वृद्धि करने से क्या लाभ है ? आखिर उनका फल तो हमको ही भोगना पड़ेगा ? पहले जान-बूझ कर पाप का उपार्जन करना और फिर उसका फल भोगना या उसकी निर्जरा के लिए तपस्या करना तो ऐसा ही है जैसे कीचड़ लगाकर साफ करना ! अतएव जो अवसर मिला है, उसका एक भी क्षण वृथा नहीं गँवाना चाहिए। जब तक इन्द्रियाँ सशक्त हैं, शरीर नीरोग और सबल है, तब तक धर्म का आचरण करके जीवन का वास्तविक लाभ उठा लेना चाहिए।

कुमार की बातें प्रभव कान लगा कर सुन रहा था। किस संबंध में वाद-विवाद चल रहा है, यह बात प्रभव को समझने में देरी न लगी। जम्बूकुमार ने अपनी पत्नियों को समझाने के लिए जो मार्मिक और प्रभावशाली शब्द कहे थे, प्रभव पर भी उनका प्रभाव हुए बिना न रहा। उसके दिल का दानव गायब हो गया और देव जागृत हो गया। वह सोचने लगा—कुमार ने नवयौवन में पांव रक्खा है। आज ही इनका अप्सराओं के समान सुन्दरी नवयुवतियों के साथ पाणिग्रहण हुआ है ! करोड़ों की सम्पत्ति दहेज के रूप में मिली है ! पर इनका यह हाल है कि इनमें से किसी के प्रति तनिक भी आकर्षण नहीं ! पत्नियों को त्यागने के लिए तैयार हो रहे हैं। धन को धूल समझ रहे हैं ! आह, इनमें और मुझ में कितना अन्तर है ?

इस प्रकार विचार आते ही प्रभव के हृदय में एक नवीन प्रकार का साहस उत्पन्न हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। उसने सोचा–मुझे कुमार के सामने जाकर अपने आपको

[illegible]
[illegible]
[illegible]
भोग लेना ही चाहता है।

यह सोचकर प्रभव अचानक ही जम्बूकुमार के सामने आ पहुँचा। अचानक अपने भवन में आविर्भूत हुए उस अनजाने पुरुष को देखकर जम्बूकुमार की पत्नियाँ घबरा गईं। परन्तु कुमार के चित्त पर उसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। उन्होंने सिर्फ यही पूछा—'भद्र! तुम कौन हो? इस समय यहाँ आने का क्या प्रयोजन है?'

प्रभव ने कहा—कुमार, मैं अपना पूरा और सच्चा परिचय अवश्य दूँगा। यही निश्चय करके आया हूँ। आप अधिक उत्सुक हों तो सुनिए। मैं प्रभव हूँ—प्रख्यात डाकू! पर डाकू था, अब बदल गया हूँ। आपके जादू ने एकदम मेरे जीवन को बदल दिया है। आप अन्यथा विचार न करें और यह बहिनें भयभीत न हों। मैं अब भद्र पुरुष बन गया हूँ।

कुमार और उनकी पत्नियां प्रभव का परिचय पाकर चकित थे!

कुमार ने पुनः प्रश्न किया—मगर यहाँ इस समय आने का प्रयोजन?

प्रभव ने कहा—यह भी बतला दूँगा। पर यह तो कहिए कि आपको असमय में वैराग्य कैसे आ गया? एक ओर हमारे जैसे अनगिनत मनुष्य हैं जो परधन और परदारा की फिराक में, इधर-उधर भटकते फिरते हैं। उन्हें पाने के लिए प्राणों को जोखिम में डाल देते हैं, दूसरी ओर आप हैं जो इस विराट वैभव को ठुकरा रहे हैं, जो अप्सराओं को भी मात देने

वाली सुन्दरियों की ओर से मुँह मोड़ रहे हैं। क्या आपके लिए यही उचित है? ऐसा करना कोई व्यावहारिक चातुर्यता नहीं।

प्रभव को अपने पक्ष का समर्थन करते देख आठों सुन्दरियां प्रसन्न हो उठीं। उनका भय दूर हो गया। वह मन में सोचने लगीं—भाग्य से हमें सहायक मिल गया है ! कुमार समझ जाएँ तो कितना अच्छा हो !

इसी समय प्रभव ने फिर कहा—कुमार ! दीक्षा लेने के अपने विचार को बदल डालो। अपने विशाल धन के भंडार को संभालो। सहधर्मिणियों का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया है, उसका विचार करो। इन्हें निराश मत करो। इनके सुख-स्वप्न को भंग मत करो।

कुमार ने कहा—प्रभव ! मैंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। विवाह से पहले भी यह छिपा नहीं था। मेरा संकल्प अटल है। उसमें रंच मात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता। मैं तो तुम्हें भी यह पथ ग्रहण करने की प्रेरणा करता हूं। धन एकत्र करके करोगे क्या? साथ में कुछ लाये होते तो लेजा सकते हो। सब यहीं धरा रह जाएगा। अतएव यह धंधा छोड़ो। जगद्बंधु और पतितपावन भगवान् की शरण ग्रहण करो। ऐसा करने से ही निस्तार होगा। इस अल्पकालीन मनुष्य जीवन के शेष क्षणों को निर्मल साधना में लगा दो। प्रभव 'जब से जागे तभी सवेरा' इस नीति को स्वीकार करो। एक क्षण भी विलम्ब न करो।

असल में प्रभव का मन पहले से ही पलट गया था। अब कुमार की बात सुनी तो उसका विचार और दृढ़ हो गया। उसने कहा—कुमार, आपका कथन सत्य है। आपकी ओजस्वी

आखिर वे भद्रा माता के सामने पहुंचे। उन्होंने कंबल दिखलाकर कहा—माताजी यह शाल अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इनमें अनेक गुण हैं। सर्दी, गर्मी और वर्षा में समान रूप से सुखप्रद हैं। ऋतु परिवर्तन के अनुसार इनकी प्रकृति में भी यथोचित परिवर्तन हो जाता है। इन्हें ओढ़ने से ज्वर आदि रोगों का नाश हो जाता है। अग्नि इन्हें भस्म नहीं कर सकती। आग के संसर्ग से उलटे यह शुद्ध हो जाते हैं। नर और नारी दोनों ही समान रूप से इनका उपयोग कर सकते हैं।

व्यापारियों को बात समाप्त होते ही भद्रा सेठानी बोली—कितने कंवल हैं आपके पास ?

व्यापारी—सोलह !

भद्रा—तो यह तो थोड़े हैं। मुझे बत्तीस चाहिए। बत्तीस होते तो एक-एक बहू को एक-एक दे देती। सोलह से कैसे काम चलेगा ?

व्यापारी आश्चर्य के गहरे सागर में डूब गए। उन्होंने कहा—माताजी, कंवल दोहरे हैं; एक-एक के दो-दो हो सकते हैं।

भद्रा—ठीक है फिर दो-दो कर दो।

व्यापारी—एक-एक का मूल्य बीस-बीस लाख मोहर है।

भद्रा सेठानी ने उसी समय मुनीम को बुलवाकर कंवलों की कीमत चुका देने का आदेश दिया। मुनीम व्यापारियों को साथ लेकर लक्ष्मी के भंडार में गये। वहां की विपुल एवं कल्पनातीत धनराशि देखकर व्यापारी हक्के-बक्के रह गए। मुनीम ने उनसे कहा—जितना चाहिए उतना ले लीजिए। यहां कोई कमी नहीं है !

व्यापारियों ने नियत मूल्य ले लिया। उनके हृदय हर्ष और विस्मय से नाच रहे थे। अपने जीवन में उन्होंने ऐसा पुण्य-प्रकर्ष कहीं नहीं देखा था।

(४)

शालिभद्र की सभी पत्नियां अत्यन्त विनीत, उदार और स्नेहशील थीं। उनका आपस का व्यवहार भी प्रेमपूर्ण था। प्रतिदिन प्रातःकालसब मिलकर सासू को चरण-वन्दना करने जातीं और उनका आशीर्वाद लेती थीं।

आज प्रातःकाल जब बहुएँ भद्रा के पास पहुंचीं तो उन्होंने आशीर्वाद के साथ शालें भी दीं। सब ने आदर के साथ वे शालें लीं और अपनी जगह चली गईं। वहाँ जाकर एक ने कहा—वहिन, इनका क्या करेंगे ? यह तो शरीर में चुभती हैं !

दूसरी ने कहा—स्नान करते समय इनसे पैर रगड़ डालें तो पैर एकदम साफ हो जाएंगे।

शालिभद्र के घर में वस्त्रों और आभूषणों का एक ही बार उपयोग किया जाता था। दूसरे दिन वह हटा दिये जाते थे। अतएव वे शालें भी पैर पोंछकर फेंक दी गईं।

थोड़ी देर में आंगन साफ करने के लिए महतरानी आई। उसने जगमग-जगमग करते वस्त्रों का ढेर देखा तो एक दासी को आवाज देकर कहा— बाई, ये वस्त्र सँभाल कर उठा लो। मुझे झाड़ना है।

दासी ने सब वृत्तान्त बतलाकर कहा-यह तुम्हारे लिए रक्खे हैं। खुशी से उठा ले जाओ।

महतरानी की प्रसन्नता का पार न रहा। वह गठरी बांधकर घर ले गई। जी न माना तो उसी समय एक शाल

दुर्लभ हैं। धन्य भाग्य अपने कि वे यहाँ पधारे हैं। शीघ्र चलकर उनसे मुलाकात करो।

माता की बात सुनकर शालिभद्र का चित खिन्न होगया वह मन हो विचार करने लगे-आह, मैंने पूर्ण पुण्य का उपार्जन नहीं किया, इसी कारण मेरे सिर पर कोई दूसरा नाथ है ! मैं पराधोन हूं ! इस पराधीनता में ही सुख मान कर मस्त हो रहा हूँ ! मुझे इस पराधीनता का अन्त करना चाहिये। ऐसा उपाय करना चाहिए कि मेरा कोई नाथ न हो। मैं स्वयं अपना नाथ बन सकूँ। अच्छा, देखूँ, कैसे होते हैं राजा ! वह आये हैं राजा ! वे आये हैं तो शिष्टता का पालन के हेतु मुझे उनके पास जाना ही चाहिए।

आखिर नवनीत के समान मृदुल-गात्र शालिभद्र श्रेणिक के पास आये। उन्हें देखते ही श्रेणिक महाराज के हृदय की कली-कली खिल उठी। क्या दिव्य स्वरूप है। चेहरे पर अपूर्व भद्रता, सुकुमारता, पावनता, और दोप्ति थी। एकदम गौर वर्ण, विशाल वक्षस्थल, चोड़ा ललाट ! जान पड़ता था, पुण्य की साक्षात् प्रतिमा है।

श्रेणिक महाराज स्वयं बहुत सुन्दर थे, परन्तु शालिभद्र के सौन्दर्य को देखकर वह मुग्ध हो गये। उन्होंने कुमार को अपनी गोद में बिठलाया। मगर मनुष्य-शरीर के ताप से शालिभद्र का मक्खन-सा शरीर पिघलने लगा। महाराज और उनके साथी सामंत आदि यह देखकर दंग रह गए। आखिर महाराज ने कहा—मांजी, कुमार को अपने आराम पर भेज दीजिए। इन्हें यहां कष्ट हो रहा है। यह पुण्य-पुरुष हैं।

(५)

पुण्यानुबंधी पुण्य आत्मा को उच्च से उच्चतर स्थिति पर पहुँचाता है। कुमार शालिभद्र महान् पुण्यशाली थे। आज उन्हें उच्चतर स्थिति पर पहुंचने का एक निमित्त मिल गया। 'मेरे सिर पर नाथ है, मैं पराधीन हूँ, यह विचार बार-बार उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। उन्होंने सोचा मैं इस स्थिति का अन्त करूँगा। मैं ऐसी करनी करूंगा कि कोई मेरा नाथ न रहे। यह सब संसार त्याग कर मुक्ति की साधना करने पर ही संभव हो सकता है।

शालिभद्र के हृदय-सरोवर में वैराग्य की लहरें उठने लगीं। यह जब अपने आवास में पहुँचे तो इन्हीं विचारों में डूब गये। उनकी पत्नियों ने कुमार का गंभीर एवं विरक्त मुखमंडल देखा। उनके व्यवहार में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने चिन्तित होकर भद्र माता को बुलाया। कुमार ने माता से स्पष्ट कह दिया—'माताजी, मैंने समझ लिया है कि संसार का सारा वैभव एकत्र होकर भी मनुष्य को सनाथ नहीं बना सकता। संसार जन्म जरा मरण आदि के घोर दुःखों से परिपूर्ण है। मैं इन दुःखों पर विजय प्राप्त करने की साधना करने के लिए भगवान् महावीर के चरणों का सहारा लूँगा। मैं नाथ बनूँगा। अपनी अनाथता का परित्याग कर दूँगा।

भद्रा माता के हृदय को गहरा आघात लगा। वे बोली बेटा, वह साधना अच्छी है, पर तुम्हारे जैसों के लिए नहीं। तुम्हारा यह कोमल शरीर तपस्या की अग्नि को सहन नहीं कर सकता। जिसने हवेली से बाहर पांव नहीं रक्खा, वह बिना उपानह, कैसे ग्रामानुग्राम पैदल चलेगा? बेटा, इस विचार को

भद्रा माता चिन्तित थी। उनके बहुत अनुरोध करने पर भी शालिभद्र का निश्चय न बदला। अन्ततः माता के बहुत कुछ आग्रह करने पर उन्होंने एक-एक दिन एक-एक पत्नी का परित्याग करते हुए बत्तीस दिन गृहस्थी में रहना स्वीकार कर लिया। परन्तु बीच में ही उनके बहनोई धन्ना सेठ को वैराग्य हुआ और उनकी प्रेरणा पर शालिभद्र भी उनके साथ ही दीक्षित हो गए।

भगवान् महावीर के समीप दीक्षित होकर शालिभद्र मुनि ने आध्यात्मविद्या का गंभीर अभ्यास किया और तीव्र तपश्चर्या की। गुलाब के फूल से भी अधिक कोमल और नवनीत से भी अधिक सुकुमार शरीर को आपने तपश्चर्या की आग में झोंक दिया। जो पैर कभी जमीन पर नहीं पड़े थे, वही आज बिना जूते कंकरीली-पथरीली भूमि में विचरण करने लगे जो स्वर्गलोक की सम्पदा का यथेच्छ उपयोग करते थे, वही शालिभद्र आज स्वेच्छा से अकिंचन-अपरिग्रही बन गये। सात खण्ड की दिव्य हवेली में निवास करने वाला पुण्य-पुरुष आज 'अनगार' बन गया। श्रेणिक जैसे सम्राट के शासन को भी असह्य समझने वाले इन भिक्षु ने श्रमण भगवान् के धर्म शासन को अंगीकार किया। उन्हें भोग रोग

प्रतीत हुए। संसार की विभूति तृणवत् तुच्छ प्रतिभासित होने लगी। भोगों के पंक में से निकलकर वे आत्मज्ञान के निर्मल निर्झर में अवगाहन करने लगे। वे उस अपूर्व आकुलताहीन, निराबाध, आत्मिक सुख में रमण करने लगे, जिसकी भोगी जन कल्पना भी नहीं कर सकते।

अन्त में शालिभद्र मुनि संथारा करके सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। वहां तेतीस सागरोपम की स्थिति पूर्ण करके, मनुष्यभव धारण करेंगे और मुक्ति प्राप्त करेंगे।

卐

थल चर

तिर्यंच गति के जीवों में जितनी विविधता पाई जाती है, उतनी अन्य किसी भी गति के जीवों में नहीं पाई जाती। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि का भेद तिर्यंचों में ही होता है। जलचर, नभचर और थलचर का भेद भी इन्हीं में पाया जाता है। जल में रहने वाले मगर-मच्छ आदि जलचर कहलाते हैं। आकाश में उड़ने वाले कबूतर इत्यादि पक्षी नभचर या खेचर कहलाते हैं। जमीन पर चलने वाले गाय, घोड़ा प्रभृति पशु थलचर या स्थलचर कहलाते हैं।

सिंह यद्यपि थलचर है, फिर भी वह तिर्यंचों का राजा इन्द्र गिना गया है। सिंह की शान सभी पशुओं में निराली होती है। वह अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् होता है। यद्यपि हाथी डीलडौल में सिंह की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है, फिर भी सिंह के पराक्रम एवं बल का मुकाबिला नहीं कर सकता।

दमयन्ती

यों तो प्रत्येक महिला, जो पतिव्रता होती है, जो पर-पुरुष को पिता और भाई के समान समझती है, जो शीलधर्म की रक्षा को अपने प्राणों से भी अधिक समझती है अथवा पूर्ण ब्रह्मचारिणी होती है, सती कहलाती है। संसार में ऐसी अनेक सतियां हो चुकी हैं। भिन्न-भिन्न युगों में भी होती ही रहती हैं। उनकी संख्या निश्चित करना कठिन है। किन्तु जैनजगत् में जो सोलह सतियां गिनी गई हैं, वे दूसरे अभिप्राय से। जिन महामहिलाओं ने दृढ़ता के साथ शीलधर्म का पालन किया और साथ ही जिन्होंने अपने जीवन में विशेष प्रकार का तेज प्रकट किया—किसी एक सद्गुण को चरम सीमा तक पहुंचाया, उन्हें सती की श्रेणी में गिना गया है।

हां, तो सोलह सतियों में दमयन्ती देवी की भी गणना है। उनका जीवन बड़ा ही पवित्र, बड़ा ही उच्च और बड़ा ही तेजस्वी रहा।

दमयन्ती कुन्दनपुर के राजा की पुत्री थी। उनका रूप और लावण्य उस समय अद्वितीय समझा जाता था। कुन्दनपुर-नरेश ने इतनी सुन्दरी और सुकुमारी बालिका पाकर अपने को भाग्यशाली समझा। वह अपने माता-पिता के प्रगाढ़ प्रेम की पात्र थी।

दमयन्ती राजघराने में जन्मी थी, अतः उसे किसी चीज की कमी नहीं थी, सभी प्रकार की यथेष्ट सुखसामग्री उसे अनायास ही प्राप्त थी। दास-दासियों का समूह उसकी सेवा में उपस्थित रहता था। फिर भी दमयन्ती कुमारी परावलम्बन को अच्छा नहीं समझती थी। बचपन से ही उसकी प्रवृत्ति में

कुछ विलक्षणता थी।

जब दमयन्ती आठ वर्ष की हुई तो उसे विद्या का अभ्यास कराया गया। उस समय की शिक्षापद्धति आज जैसी नहीं थी। तब अक्षरज्ञान के साथ-साथ कलाओं के ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कोरा अक्षर ज्ञान जीवन को पराधीन बनाता है और कलाओं के ज्ञान से जीवन स्वावलम्बी बनता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में पुरुषों को बहत्तर एवं स्त्रियों को ६४ कलाओं का प्रयोग के साथ अभ्यास कराया जाता था। इन कलाओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता था। कलाओं को सीख लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी भी अवस्था में अपना सुखपूर्वक निर्वाह कर लेता था तथा तेजस्विता के साथ जीवन यापन करने में समर्थ बन जाता था।

राजकुमारी दमयन्ती को ६४ कलाओं का अभ्यास कराया गया। उसकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। स्वल्प समय में ही वह कलाकुशल बन गई। राजकुमारी होकर भी उसने भोजन बनाने की, दही बिलोने की, बीमारों की परिचर्या करने की और बालकों के पालन-पोषण आदि की शिक्षा ली। वह अनेक शास्त्रों में पण्डिता बन गई।

दमयन्ती स्वभाव से ही बड़ी सुशीला थी और उसका ज्ञान भी उच्च कोटि का हो गया था। ये दो गुण जिसमें होते हैं, वह चाहे नर हो चाहे नारी, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशंसा एवं आदर पाता ही है। उसका जीवन उच्च कोटि का बन जाता है। सदाचार तथा ज्ञान के सहारे अन्य अनेक सद्गुणों का विकास हो जाता है।

राजकुमारी दमयन्ती में ये दोनों गुण विशेष रूप में प्रकट हुए थे। अतः उसके यश की सुगन्ध चारों दिशाओं में दूर-दूर तक पहुँच गई। अब वह कुमारावस्था को पार करके नवयौवन में पांव रख चुकी थी।

कन्या पराये घर का धन कहलाती है। लाड़-प्यार से पालन-पोषण करने, शिक्षित बनाने और संस्कारवती बनाने के पश्चात् उसे दूसरे घर की मेहमान बना देना पड़ता है। परन्तु कन्या जब असाधारण रूप से योग्य होती है, सद्गुणवती होती है, तब उसके लिए सुयोग्य वर का चुनाव करना एक कठिन समस्या हो जाती है। माता-पिता की स्वाभाविक ही यह इच्छा होती है कि कन्या अच्छे से अच्छे वर के साथ व्याही जाय, जिससे उसके जीवन का विकास रुक न जाय, वरन् बढ़ता जाय। वह सुख और शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करे।

विवेकवान् माता-पिता अपनी सन्तान का विवाह जीवन को सुखमय बनाने के दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह भी सोचते हैं कि हमारी सन्तान जिस प्रकार अपने धर्म का भलीभांति पालन कर सके, उसी प्रकार का साथी उसके लिए चुनना चाहिए। खेद है कि आज विवाह के विषय में यह दृष्टिकोण गौण और धन का दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। आज प्रायः कन्या का पिता गुणों की परवाह न करके धनवान् ही वर खोजना चाहता है एवं लड़के का पिता भी कन्या की शिक्षा आदि का विचार न करके धन ही देखता है। आज धन में ही सब गुण मान लिये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि वर-कन्या का विवाह होने के बदले आजकल धन का धन के साथ विवाह होता है। कई लोग तो इतनी नीचता पर उतर आते

स्वयंवर—मण्डप जय-घोषों से गूंज उठा। राजकुमारी और राजकुमार पर पुष्पों की वर्षा की गई। स्वयंवर-सभा विसर्जित हुई। बाद में दमयन्ती के माता-पिता ने उनका विधि पूर्वक विवाह कर दिया।

जिस युग की यह कथा है, उस समय भारत की संस्कृति उच्च कोटि पर पहुँची हुई थी। समाज में नारी का सम्मान-पूर्ण स्थान था। स्त्रियों को उनके योग्य सभी अधिकार प्राप्त थे। यही कारण है कि कन्याओं को अपना साथी चुनने का पूर्ण अधिकार था।

राजकुमार नल विवाह के पश्चात् कुछ दिनों तक अथिति के रुप में रहे फिर विवाह के समय प्राप्त बहुमूल्य दहेज के साथ, राजकुमारी दमयन्ती को लेकर अपने घर के लिए रवाना हुए। बारात लौट गई।

बरात चलती-चलती एक सुनसान जंगल में पहुँची। उस समय एक आकस्मिक घटना घटित हो गई। अचानक हवा का एक भयानक तूफान उठ खड़ा हुआ। धूल से धरती और आसमान एक हो गये, हाथ को हाथ न दिखाई देने लगा। चारों ओर, ऊपर-नीचे अन्धकार ही अन्धकार छा गया। सब लोग चक्कर में पड़ गये। आगे बढ़ना असंभव हो गया। बरात जहाँ की तहाँ रुक गई।

समस्त कलाओं को सीखने से बुद्धि का कितना विकास हो जाता है और संकट के समय वह कलाज्ञान कितना उपयोगी होता है, यह बात इस घटना से सहज ही विदित हो जाएगी।

चौंसठ कलाओं को सीखने से दमयन्ती का वैज्ञानिक ज्ञान भी ऊँचे दर्जे का था। जब दमयन्ती ने देखा कि चहुँ ओर अँधेरा ही अँधेरा छा गया है और साथ के सब परेशान हो रहे हैं तो उसने हाथी की पेशानी पर किसी वस्तु का लेप कर दिया। लेप करते ही, उसी समय प्रकाश फैल गया। सब लोग दमयन्ती का कला-कौशल देखकर चकित और विस्मित हो गये। सब ने नयी बहू की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। राजकुमार नल अपनी पत्नि की कुशलता देखकर फूले न समाये।

जब प्रकाश फैल गया तो लोगों ने इधर-उधर देखा। वहीं पास में एक महान् मुनिराज विराजमान थे। वह आत्मध्यान में लीन थे। उनका सौम्य मुखमंडल देखने वाले को सहसा ही श्रद्धा उत्पन्न कर देता था। पद्मासन लगाकर बैठे यह योगी जगत् में रहते हुए भी जगत् की वासनाओं और तज्जनित द्वन्द्वों से अतीत जान पड़ते थे। भयानक तूफान ने भी उनके चित्त में चंचलता उत्पन्न नहीं की थी। वे ज्यों के त्यों अडोल, अकम्प आत्मरमण में मग्न थे। बरात के कोलाहल का भी उनकी समाधि पर असर नहीं पड़ा था। नासिका के अग्रभाग पर नेत्रयुगल जमा कर बैठे हुए मुनिराज ऐसे जान पड़ते थे, मानो-वैराग्य की साक्षात् मूर्त्ति हों।

इस प्रकार की प्रशान्त मुख-मुद्रा से मंडित मुनिराज को देखकर बरात के लोग वहाँ पहुँचे। सब ने विनयपूर्वक वन्दन और नमस्कार किया। कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान

स्वाभाविक है। कोई साधारण स्त्री होती तो ऐसे अवसर पर वह भी अपनी आग बरसाती। पति के द्यूत में आसक्त होने के कारण पति के प्रति दुर्भावना करती। परन्तु दमयन्ती ने ऐसा नहीं किया। उसने यही कहा—प्राणनाथ! जुआ खेलना घोर अपराध है। आप जैसे सत्पुरुष को इस दुर्व्यसन में नहीं फँसना चाहिए था। मगर जो हुआ सो हुआ। भविष्य के लिए प्रतिज्ञा कीजिए कि अब कभी जुआ नहीं खेलेंगे।

नल ने कहा—प्रिये! तुम्हारा कथन सत्य है। मैं अब कभी जुए के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। इस बार जो भूल हो गई है, उसका डट कर प्रायश्चित करूँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं शीघ्र से शीघ्र अयोध्या त्याग कर चला जाना चाहता हूँ। अवसर आने पर मैं फिर कभी तुमसे मिलूँगा।

दमयन्ती सब कुछ सहन कर सकती थी, परन्तु संकट के समय पति का वियोग सहन करना उसके लिए संभव नहीं था अतएव उसने कहा—नाथ, पत्नी अर्धांगिनी होती है। क्या यह संभव है कि आधा अंग संकट भोगे और आधा अंग राजमहल के ऐश्वर्य का अनुभव करे? नहीं। जो गति आपकी सो मेरी। मैं आपके साथ चलूँगी। सुख में साथ रही हूँ तो क्या दुःख के समय अलग रहूँगी? ऐसा नहीं होगा। मैं आपका बोझा नहीं बनूँगी, बल्कि बोझे को हलका करने का प्रयत्न करूँगी। मुझे अपने धर्म से वंचित करने का विचार मत कीजिए। मैं आपकी सेवा में ही रहूँगी। सती नारी के लिए पति ही गति है।

दमयन्ती के विचार जानकर नल को जहाँ सन्तोष हुआ, वहीं दुविधा भी हुई। वे चाहते थे कि दमयन्ती सुखपूर्वक यहीं रहे और वह अन्यत्र जाकर जब स्थिर हो जाएँ तो उसे बुला लें। इस समय उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं था। कहाँ जाना

की भांति कह कर मुकर जाने वाले नहीं थे।

नल और दमयन्ती दोनों पैदल चलतेचलते एक निर्जन वन में पहुँचे। पैदल चलने का यह अनुभव दोनों के जीवन में पहला ही था। खास तौर से दमयन्ती के लिए यह अनुभव भारी पड़ने लगा। यद्यपि उसे संकट समय पति साथ देने के लिए संतोष था, फिर भी शरीर तो आखिर शरीर ही ठहरा। राजसी वैभव की गोद में पला हुआ उसका मृदुल शरीर मुरझा गया। पैर जवाब देने लगे। चेहरे पर थकावट के चिह्न दिखाई देने लगे।

दमयन्ती की यह परेशानी नल से छिपी न रही। वे अपनी प्रतिप्राण पत्नी की दुर्दशा को देखकर मन ही मन व्यथा का अनुभव करने लगे। नल सोचने लगा—जुआ खेल कर मैंने जो पाप किया, उसका प्रायश्चित मुझे करना चाहिए; मगर दमयन्ती क्यों कष्ट भोगे ? इस बेचारी ने क्या अपराध किया है ? यह मेरे पाप के फलस्वरूप कष्ट पा रही है। आज पहला ही दिन है। एक दिन की थकावट में इसकी यह हालत है ! कौन जाने अभी कितने दिन और कितनी दूर भटकना पड़ेगा। इस कोमलांगी के लिए यह असह्य होगा ! यह अपने धर्म का पालन करने के लिए मेरा साथ दे रही है; पर इसके प्रति मेरा धर्म क्या है ? क्या मैं अपने साथ इसे घसीटूं और कष्ट दूं ?

नल की अन्तरात्मा ने कहा—नहीं, मैं अपने पाप का अकेला ही प्रायश्चित करूँगा। दमयन्ती को संकटों से बचाऊंगा।

चलते-चलते संध्या हो गई थी। अब आगे चल सकना सम्भव नहीं था। बस्ती कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। तब नल एक झरने के किनारे ठहर गये। वहीं रात्रि व्यतीत करने

का निश्चय किया।

थकी-मांदी दमयन्ती की आंख लग गई। नल ने द्रौपदी के उद्धार का यही उत्तम अवसर समझा। नल ने द्रौपदी के एक कपड़े पर लिखा—'प्रिये! तू ने जिसे हंस समझ कर पति के रूप में ग्रहण किया था, वह हंस नहीं था। फिर भी तू हंस समझ कर ही उसका साथ दे रही है। पर तेरी व्यथा मेरे लिए असह्य है। मुझे अकेले को ही अपने पाप का प्रायश्चित करने दे। तू यथास्थान लौट जाना। राज्य का त्याग करते समय जो पीड़ा नहीं हुई थी, वह इस समय हो रही है। पर तेरा दुःख मुझसे देखा न जाएगा। इसी कारण यह कठोर कृत्य कर रहा हूं। भाग्य अनुकूल हुआ तो हम शीघ्र मिलेंगे। देवि! क्षमा करना।'

नल छाती कड़ी करके चल दिये। यद्यपि चलते समय उनके पैर लड़खड़ाने लगे, हृदय विद्रोह करने लगा; फिर भी किसी तरह वह चल ही दिये। उनका खयाल था कि दमयन्ती अयोध्या लौट जाएगी और वहां शान्तिपूर्वक रह सकेगी। पर गौरवशालिनी दमयन्ती के लिए यह सम्भव नहीं था। कभी-कभी जीवन में ऐसी विचित्र घटनाएं घटित होती हैं, जिनका विश्लेषण करना एवं जिन पर अपना निर्णय देना बड़ा ही कठिन हो जाता है! नल के इस कार्य के विषय में भी यही बात है।

थोड़ी देर बाद जब दमयन्ती की नींद खुली तो उसने अपने आपको अकेला पाया। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, आवाजें दी, पर सब व्यर्थ! दमयन्ती को समझते देर न लगी कि पति देव उसे छोड़कर चले गये हैं।

दमयन्ती के सामने विषम परिस्थिति उपस्थित थी।

रूप से धर्म का पालन कर सकूंगी !

इत्यादि-विचार करके दमयन्ती ने धैर्य धारण किया। उसने अपने साहस को नष्ट नहीं होने दिया। दृढ़तापूर्वक, भगवान् का स्मरण करके वह वहां से चल पड़ी। घूमती-फिरती दमयन्ती एक दिन अचलापुरी में अपने मौसा के घर जा पहुंची। उसकी मौसी ने बड़े प्यार से उसे अपने पास रक्खा। दमयन्ती व्रत, उपवास, दान और शील धर्म का पालन करती हुई अपना समय व्यतीत करने लगी। इस समय उसका जीवन सन्यासिनी का सा था। वह गृहस्थी में रहती हुई भी अपना अधिक समय धर्म-ध्यान में ही व्यतीत करती थी।

लगभग बारह वर्ष के पश्चात् अचानक नल भी एक दिन अचलापुरी में जा पहुंचे। वहां दोनों का सम्मिलन हुआ। इस सम्मिलन से दोनों के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द हुआ।

इस अवधि में कुबेर की मृत्यु हो चुकी थी। अतएव नल और दमयन्ती ने अयोध्या लौट जाना ही उचित समझा। अयोध्या जाकर नल फिर शासन करने लगे। बीच के समय ने उन दोनों के जीवन में काफी परिवर्तन कर दिया था। अतएव वे राज्य करते हुए भी अत्यन्त सादगी से रहते, धर्म का आचरण करते और प्रेम से प्रजा का पालन करते थे।

कुछ दिनों के पश्चात् दमयन्ती के हृदय में वैराग्य का भाव जागृत हुआ। उसने मनुष्य-जीवन के सब से बड़े लाभ आत्मकल्याण को प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। नल राजा ने बाधा देना उचित न समझा। अतएव एक दिन दमयन्ती देवी संसार के समस्त सुखों का परित्याग करके साध्वी बन गई। उन्होंने तपस्या करके और ज्ञान प्राप्त करके

था। अपनी कुशलता की बदौलत धन्ना कुमार ने वहाँ बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। यह सब देखकर उनके भाइयों के हृदय में फिर ईर्षा की आग भड़कने लगी। वे सोचने लगे—क्या राजा और क्या प्रजा, सभी धन्ना को चाहते हैं। धन्ना की कीर्ति एवं प्रतिष्ठा असाधारण है। परन्तु हमें कोई पूछता तक नहीं है ! हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है !

इस प्रकार सोच-विचार के कारण वे उदास रहने लगे। धन्नाजी उड़ती चिड़िया परखने वाले व्यक्ति थे। अपने भाइयों की मनोदशा को समझ गये। परन्तु पहले वह अविवाहित थे। घर छोड़कर चल देना आसान था। राजगृह में आने पर उनके तीन विवाह हो चुके थे। वह सम्राट् के जामाता हो गए थे। फिर भी उन्होंने अपने भाइयों के सुख के के लिए गृहत्याग कर देने का निश्चय कर लिया।

एक दिन वह राजगृह त्याग कर खिसक गये। सम्पत्ति की ममता उन्हें रोक न सकी। पत्नियों का प्रेम भी उनके पथ में बाधक न बन सका। असली बात यह थी कि धन्नाजी बड़े ही निस्पृह थे। धन-दौलत को वह पैर की धूल समझते थे। जानते थे कि अगर भाग्य में धन है तो वह आये बिना नहीं रहेगा। उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। मेरे त्याग से भाइयों को सुख मिलता है तो मेरा त्याग सार्थक है।

ऐसा सोचकर; अपना सर्वस्व त्यागकर धन्ना कुमार चल दिये। चलते-चलते कौशाम्बी नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा शतानीक बड़े प्रभाव शाली थे। उनके पास एक सहस्त्र-किरण मणी थी, परन्तु उसके प्रभाव और गुण का किसी को पता नहीं था। अतएव शतानीक ने यह घोषणा की थी कि जो पुरुष इस मणि के गुण प्रमाण पूर्वक बतलाएगा, उसे मुँह

मांगा इनाम मिलेगा।

कुमार धन्ना यह घोषणा सुनकर राजा के पास गये। मणि की भली-भांति परीक्षा करके उन्होंने उसके गुण राजा को बतलाए। राजा ने पूछा आपके कथन की सत्यता का प्रमाण क्या है? कुमार ने कहा- अनाज के [illegible] दानों में मणि रख दीजिए तो पक्षी अनाज नहीं चुगेंगे। मणि निकाल देंगे तो चुगेंगे।

ऐसा ही किया गया। कुमार की बात सच निकली। राजा शतानिक ने कुमार का बहुत आभार माना। उन्होंने अपनी पुत्री राजकुमारी सौभाग्यमंजरी देकर उन्हें अपना जामाता बना लिया। दहेज में पांच सौ गांवों की जागीर दी। हाथी-घोड़े, धन-सम्पत्ति आदि भी प्रचुर परिमाण में दिये। धन्ना कुमार वहाँ आनन्द पूर्वक रहने लगे। यहाँ भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के चमत्कार से आदरपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

धन्ना कुमार 'धन्ना पुर' नामक एक सुन्दर और आदर्श गांव बसाया। वहां के निवासियों की सुविधा के लिए एक विशाल तालाब खुदवाने का आयोजन किया। इसमें उन्होंने दो लाभ सोचे- प्रथम तो ग्रामवासियों को आराम मिलेगा, पानी की प्रचुरता से खेती-बाड़ी अच्छी होगी तो प्रजा को सुख मिलेगा; दूसरे बेकार नर-नारियों को काम मिल जायगा। उनकी बेकारी मिट जायगी। भरपेट खाने को मिलने लगेगा। तालाब की खुदाई का काम आरंभ कर दिया गया।

धन्ना कुमार बड़े ही उदार और दयालु थे उन्होंने खुदाई का काम करने वाले मजदूरों को प्रतिदिन दो दिनार एवं मजदूरिनों को एक दिनार मजदूरी देने का निश्चय किया।

विशेषता तो यह थी कि मजदूरों को भर पेट भोजन भी दिया जाता था।

इस तालाब की खुदाई की खबर दूर-दूर तक फैल गई। सैकड़ों पुरुष और स्त्रियां आकर यहाँ काम करने लगे। जो भी आता, उस को काम पर लगाया जाता था। किसी को मनाई नहीं की जाती थी। इस प्रकार सभी मजदूर बहुत प्रसन्न रहते, उत्साह से काम करते और धन्ना राजा के गुणगान करते थे। धन्ना भी सैकड़ों को सहायता पहुँचा कर प्रसन्न एवं संतुष्ट थे। इसी में वे अपने द्रव्य की सार्थकता समझते थे। जो धन तिजोरियों में पड़ा पड़ा सड़ा करता है, परोपकार आदि अच्छे कामों में नहीं लगता, वह बेकार है।

(३)

अब जरा राजगृह की ओर दृष्टि दौड़ाइए। जब धन्ना कुमार वहाँ से अचानक चल दिये और उनके चले जाने का कारण सम्राट् श्रेणिक को ज्ञात हुआ तो वह बहुत क्रुद्ध हुए। दूसरे लोग भी धन्ना के भाइयों को धिक्कार देने लगे। उनको मुंह दिखलाना भी कठिन हो गया। धीरे-धीरे धन भी क्षीण हो गया। धन्ना के पुण्य से संचित धन उनके अभाव में गायब हो गया।

लाचार होकर धनसार सेठ को अपनी पत्नी, पुत्र वधुओं और तीनों पुत्रों के साथ राजगृह त्यागना पड़ा। कुमार की पत्नी सुभद्रा ने अपने सास-श्वसुर का साथ दिया। सब निकल पड़े। तत्पश्चात् इधर-उधर घूमते हुए एवं मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते हुए, एक दिन 'धन्नापुर' आ पहुँचे। सब तालाब की खुदाई का काम करने लगे।

एक दिन कुमार धन्ना कार्य का निरीक्षण करने के लिए तालाब पर आये। उनकी दृष्टि अपने परिवार पर पड़ी तो वे अत्यन्त चकित हुए। कर्मगति की विचित्रता का विचार करने लगे।

दयालु धन्ना से न रहा गया। उन्होंने अपने भाइयों के दुर्व्यवहार को परवाह न करके फिर भी उन्हें आश्रय दिया। मगर पिछली घटनाओं पर विचार करके कुमार ने सोचा—'सम्मिलित होकर रहने का परिणाम अच्छा नहीं निकलता। अबकी बार भाइयों का पृथक् प्रबन्ध कर देना उचित होगा, जिससे यह लोग सन्तुष्ट रहें।

यह सोचकर धन्ना ने अपनी समस्त जागीर तीनों भाइयों को दे दी। आप कुछ सम्पत्ति लेकर अलग रहने लगे। धन्ना का ख्याल था कि इस बार भाइयों को स्थावर सम्पत्ति दी है तो ये स्थायी रूप से सुखी हो सकेंगे।

कुछ दिन पश्चात् धन्ना कुमार राजगृह चले। वहाँ उनकी दो पत्नियाँ थीं और उन्हें सँभालना आवश्यक था। रास्ते में लक्ष्मीपुर पड़ा। वहाँ भी संगीत कौशल से तथा बुद्धि के प्रभाव से आपकी धाक जम गई। वहाँ की राजकुमारी के साथ विवाह हो गया। कुछ दिन ठहर कर राजगृह पहुंचे तो राजा श्रेणिक ने बहुत धूमधाम के साथ आपकी अगवानी की। सारे नगर में आनन्द छा गया। धन्ना कुमार पहले की भाँति अपनी आठों पत्नियों के साथ सुख पूर्वक रहने लगे।

उधर धन्नापुर में तीनों भाई जागीर पाकर सुखी थे, परन्तु पुण्य के योग के बिना सुख नहीं मिल सकता। धन्नाजी के चले आने के पश्चात् तीनों भाइयों में अनबन हो गई। उन्होंने जागोर का बँटवारा कर लिया। मगर बात यहीं

समाप्त न हुई। दुर्दैव के प्रभाव से वहाँ अनावृष्टि के कारण जनता दुखी हो गई। लोग इधर-उधर चले गये। सेना भी सब छिन्न-भिन्न हो गई।

सेठ धनसार ने उन्हें कुछ द्रव्य देकर व्यापार करने की सलाह दी। वे व्यापार के लिए निकले तो मूल पूंजी ही समाप्त हो गई। आखिर तीनों भाई भटकते-भटकते राजगृह में आये। एक दिन धन्नाजी रथ में सवार होकर राजमार्ग से जा रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि अपने भाइयों पर जा पड़ी। अत्यन्त दीन दशा में उन्हें देखकर धन्नाजी के हृदय को गहरी चोट लगी। वह सोचने लगे—खेद है कि मैं अनेक बार प्रयत्न करके अपना सर्वस्व देकर भी अपने भाइयों को सुखी न बना सका। ज्ञानियों का कथन सत्य ही है कि इस संसार में कोई किसी को सुखी दुखी नहीं बना सकता। सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं। जो मनुष्य पहले पुण्य उपार्जन करके नहीं आया, वह सदा सुखी होना चाहे तो कैसे हो सकता है? फिर [illegible] होना चाहिए। भाई का भाई के प्रति [illegible] चाहिए। जो भाई अपने भाइयों का [illegible]

उनका पूर्वोपार्जित पापकर्म हल्का हो गया। इन कारणों से इस बार वे शान्ति के साथ रहने लगे। धन्ना कुमार के प्रति उनके मन में से ईर्षा की भावना निकल गई। वे समझ गये कि धन्ना के साथ स्नेहपूर्वक रहने में ही हमारा कल्याण है।

(४)

एक दिन राजगृह में धर्मघोष नामक मुनिराज का पदार्पण हुआ। वे अवधिज्ञान के धारक उच्चकोटि के महात्मा थे। उनके आगमन का वृत्तान्त सुनकर राजा-प्रजा, बूढ़े-बालक नर-नारी, सभी उनके दर्शन करने तथा धर्मोपदेश सुनने को एकत्र हुए। मुनिराज ने प्रशान्त मुद्रा तथा मधुर एवं प्रभावशाली वाणी से श्रोताओं को भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित धर्म का उपदेश दिया।

उपदेश समाप्त हो जाने पर सेठ धनसार ने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवान्! धन्ना कुमार आदि चार सगे भाई हैं! परन्तु धन्ना में और शेष तीन में बड़ा अन्तर है। इसका कारण क्या है?

मुनिराज ने उत्तर दिया–भव्य जीवो! एक ही परिवार में जन्म लेने वाले, समान परिस्थिति में रहने वाले और एक ही समान साधनों से सम्पन्न भाइयों में जब महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है तो समझना चाहिए कि किसी अदृष्ट कारण से ही यह अन्तर पड़ा है। क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, यह अटल नियम है। वह अदृष्ट कारण कर्म ही है। जिसने जैसे कर्मों का बन्ध किया हैं, उसे वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। भूतकाल में जो कर्म किये जा चुके हैं, उनका फल समभाव से भोगना एवं वर्त्तमान जीवन को सुधार करके भविष्य को उज्वल बनाना ही विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है।

धन्ना कुमार के तीन भाइयों ने भी दान दिया था। किन्तु दान देने के बाद उनकी भावना दूषित हो गई। इस कारण अत्यन्त परिश्रम करने पर भी वे [illegible] सुखी नहीं हो सके। [illegible] ने दान देकर पश्चात्ताप किया था, दान का सुन्दर फल गंवा दिया। इस प्रकार इनकी परिस्थितियों में जो अन्तर पड़ा है, उसका मूल कारण भावभेद है। बाह्य क्रिया समान होने पर भी भावना से उसके फल में महान् भेद हो जाता है।

धन्ना कुमार के तीनों भाइयों ने भी अपना पूर्ववृत्तान्त सुना। उसे सुन कर उनके चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह कहने लगे—'भगवन्! आपके अनुग्रह से हमें अपने कर्त्तव्य का भान हुआ। हमारे नेत्र खुल गये। जिन कर्मों ने हमें सताया है, उनका अन्त कर डालने का हमने निश्चय किया है। इसके लिए हम आपके चरण-शरण में आना चाहते हैं। प्रभो! भव-सागर को पार करने के लिए हमें अपनी चरण-नौका का आश्रय दीजिए।'

मुनिराज धर्मघोष ने कहा—भव्य जीवो! धर्म का आश्रय लेने से ही आत्मा के अनन्त स्वाभाविक सुख की उपलब्धि की जा सकती है। वीतराग देव द्वारा कथित मार्ग

ही धर्म है। जो प्राणी समस्त दुःखों का अन्त करना चाहते हैं और स्थायी तथा अनन्त सुख को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें धर्म की शरण लेना ही चाहिए।

यह सद्बोध सुनकर धन्ना कुमार के माता-पिता तथा भाई-भौजाई ने संसार-त्याग कर श्रमण धर्म को अंगीकार किया।

धन्नाजी सुखपूर्वक रहने लगे। राजगृह में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मगध के प्रतापशाली सम्राट श्रेणिक के जामाता होने के कारण नहीं, वल्कि अपने असाधारण औदार्य, त्याग अनोखी सूझ, तीव्र बुद्धि और धर्मनिष्ठा आदि सद्गुणों के कारण वे जनता की श्रद्धा एवं सद्भावना के पात्र बने थे। राजसभा में जब कोई पेचीदा समस्या उपस्थित होती तो धन्नाजी की सूझबूझ उसे बड़ी सुन्दरता से, चुटकियों में, हल कर देती थी।

(५)

संसार में तरह-तरह के मनुष्य हैं। कोई अपने पास की पूंजी को भोग कर समाप्त कर देते हैं। कोई नवीन पूंजी उपार्जन करते हैं। कोई अपनी पूंजी को ज्यों की त्यों रहने देते हैं—न घटने देते हैं, न बढ़ाते ही हैं। यह बात पौद्गलिक सम्पत्ति के विषय में ही नहीं, पुण्य-सम्पत्ति के विषय में भी यही बात है। जो लोग पूर्वार्जित पुण्य के उदय से सुखपूर्वक रहते हैं, किन्तु नवीन पुण्य उपार्जन नहीं करते, वे अपनी पूंजी गंवा देते हैं। जो नवीन पुण्य उपार्जन करते हैं वे पूंजी बढ़ाने वाले हैं। और जो जितना पूर्व पुण्य भोगते हैं, उतना ही नवीन उपार्जन कर लेते हैं, वे अपनी पूंजी को ज्यों की त्यों स्थिर रखने वाले हैं।

धन्ना सेठ अपनी पूंजी बढ़ाने वाले उत्कृष्ट पुरुष थे। धर्म की आराधना करते हुए शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन कर रहे थे।

एक दिन एक साधारण-सी घटना ने ही उनके जीवन में महान् परिवर्तन कर दिया।

धन्ना सेठ स्नान कर रहे थे। कौतुकवश उनकी आठों पत्नियाँ स्नान करा रही थीं। अचानक सुभद्रा की आँखों से आँसू टपक पड़े। धन्नाजी ने पूछा—'प्रिये! तुम्हें क्या कष्ट है? यह आँसू क्यों?'

सुभद्रा—नाथ, मेरा एकलौता भाई शालिभद्र दीक्षा लेने को उद्यत हो रहा है। प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग करता जा रहा है बत्तीसों पत्नियों को त्याग कर वह मुनि-धर्म अंगीकार कर लेगा तो मेरा पीहर सूना हो जायगा।

धन्ना—प्रिये, तुम्हारा भाई बड़ा कायर जान पड़ता है! जब त्याग करने को तैयार हुआ तो सब को एक ही साथ क्यों नहीं त्याग देता?

सुभद्रा—कहना आसान और करना बहुत कठिन होता है नाथ! शालिभद्र दिव्य ऋद्धि का एवं अप्सराओं के समान पत्नियों का त्याग कर रहा है। आपकी ऋद्धि उसकी ऋद्धि की तुलना में नगण्य है। आप तो इसका भी त्याग नहीं कर सकते तथा उसे कायर कहते हैं!

पुण्यशाली तेजस्वी पुरुष साधारण से साधारण घटना से भी महान् बोध प्राप्त कर लेते हैं। छोटा-सा निमित्त भी उन्हें जागृत कर देता है। धन्ना सेठ ने अपनी पत्नी सुभद्रा के वचनों को अपने लिए महान् शिक्षासूत्र बना लिया। उसी समय वे संयम धारण करने को तैयार हो गए।

सन्नाटा छा गया। सुभद्रा क्षमायाचना करने लगी।

शेष पत्नियाँ अनुनय-विनय करके रोकने लगीं। पर धन्ना सेठ की अन्तरात्मा जाग उठी थी। उनका मोह पतला पड़ गया था। उन्होंने कहा—मैं क्रोध या आवेश से साधु नहीं बन रहा हूँ। मैं सुभद्रा का आभारी हूँ, जिसने मुझे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। मनुष्य जीवन की वास्तविक सफलता आत्म-कल्याण में ही है। विषय-भोग आत्मा के पतन के कारण हैं। इनसे आत्मा को कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति प्राप्त करने के लिए विषय-भोगों का त्याग करना आवश्यक है।

यह कहकर धन्ना सेठ अपनी हवेली से निकल पड़े। वे अपने साले शालिभद्र के पास गये। उन्हें साथ लेकर दोनों मुनि बन गये। अन्त में तीव्र तपश्चरण करके निरंजन-निराकार पद को प्राप्त हुए।

卐

नंदावृत (नंद्यावर्त्त)

नन्द्यावर्त्त एक प्रकार का स्वस्तिक है। स्वस्तिक के अनेक आकार होते हैं। इनमें से प्रत्येक दिशा में नौ कोने वाला स्वस्तिक नन्द्यावर्त्त कहलाता है। इसकी बनावट बड़ी सुन्दर और आकर्षक होती है।

आर्य जाति में, अत्यन्त प्राचीन काल से, स्वस्तिक की मान्यता चली आ रही है। यह एक मांगलिक वस्तु मानी जाती है। भारतवर्ष में तो इसे मांगलिक समझा ही जाता है, जर्मनी जैसे पाश्चात्य देशों के निवासी भी इसे एक शुभ चिह्न मानते हैं। प्रत्येक मांगलिक कार्य में, लोक व्यवहार में स्वस्तिक की रचना की जाती है। वास्तव में स्वस्तिक का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।

पत्त (पात्र)

पात्र का अर्थ है—भाजन । प्राकृत भाषा में पात्र का 'पत्त' रूप हो जाता है । विशेष करके काष्ठ के पात्र साधुओं के काम आते हैं ।

अकर्मभूमि के समय लोग पात्र नहीं बनाना जानते थे । सबसे पहले भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को पात्र बनाने की कला सिखलाई थी । तभी से नाना प्रकार के पात्र बनने लगे हैं ।

साधुजन, गृहस्थों की तरह चांदी, सोने, पीतल, तांबे आदि किसी भी धातु के पात्र नहीं रखते । भगवान् ने साधु को तीन प्रकार के पात्र रखने की आज्ञा दी है—लड़की के, मिट्टी के और तूंबे के । आजकल साधु प्रायः काष्ट के पात्र रखते हैं । कोई-कोई मिट्टी के भी रखते देखे जाते हैं ।

भिक्षा आदि के लिए पात्र की आवश्यकता होती है । पात्र के विना आहार नीहार आदि में सुविधा नहीं रहती । अतएव उनका रखना आवश्यक है । मगर पात्रों में साधु की ममता नहीं होनी चाहिए । जो ममता नहीं धारण करता, उसके लिए पात्र परिग्रह रूप नहीं होते । जिसके अन्तःकरण में उनके प्रति ममता रहती है, उसके लिए वे भी परिग्रह रूप होते हैं । साधु के लिए पात्र रखने की मर्यादा निर्धारित कर दी गई है ।

卐

फलक (पाट)

फलक या पाट प्रायः लकड़ी से बनते हैं। जैन साधु निर्ग्रन्थ होते हैं। उनके पास कोई परिग्रह नहीं होता जहां गये, वहीं निर्दोष फलक मिल गया तो उसे बैठने या सोने के काम में ले लेते हैं। अगर फलक उनके निमित्त बनवाया गया हो और उन्हें पता लग जाय, तो वे उसका उपयोग कदापि नहीं करते। कोई गृहस्थ इधर-उधर से उनके लिए लाते एवं मुनि से उसका उपयोग करने के लिए निवेदन करे तो भी वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे। वे स्वयं लाकर उपयोग कर सकते हैं।

साधुजन उसी फलक का उपयोग कर सकते हैं, जिसमें खटमल आदि जीव-जन्तु नहों। जो फलक ज्यादा दरारों वाला हो और इस कारण जिसमें जन्तुओं के रहने की आशंका हो अथवा वो बहुत हिलता-डुलता हो जिसके कारण अयतना होने की संभावना हो, ऐसा फलक साधु काम में नहीं लाते। वे पलंग, व खाट, कुर्सी आदि का उपयोग नहीं करते। अतएव या तो भूमि पर ही बैठते- सोते हैं, या फिर निर्दोष पाट पर।

साधु बहुत विनयवान् होते हैं। अतएव जब कोई बड़े साधु सामने हों तो छोटे साधु उनके पाट से ऊंचे पाट पर नहीं बैठते। जब कोई साधु फलक पर बैठता है तो उसे पूंज कर ही बैठता है।

फलक के चार पाये होते हैं। उनसे मानों यह सूचना मिलती है कि जैसे फलक चार पायों पर टिका है, उसी प्रकार यह संसार भी चार गतियों पर टिका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान्, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप- इन चार साधनों से चारों गतियों का अन्त करके अक्षय अनन्त सुख प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है।

[illegible]

[illegible] देखते देखते विभोर हो गए ! इस प्रकार बलभद्र जी के चित्त की दशा बड़ी ही विचित्र थी। क्या किया जाए, कहाँ जाएँ और जो करें सो किस लिए करें, यह कुछ भी उनकी समझ में नहीं आता था ! अन्त में यह कठोर सत्य उनके कानों में गूंज उठा:—

> जीवन तक [illegible] न रहते हैं, स्वजन-साथ छूटेंगे,
> दुनिया के सम्बन्ध विदाई की बेला टूटेंगे।
> यह क्रम चलता रहा आदि से अब भी चलता भाई,
> संयोगों का एक मात्र फल केवल सदा जुदाई॥

संसार अनित्य और क्षणभंगुर है। इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। संसार का वैभव संध्याकाल की लालिमा के समान अस्थिर है। आत्मा का किसी भी पर-पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध समझना ही समस्त अनर्थों एवं दुःखों का मूल है।

इस प्रकार बलभद्रजी की विचारधारा दूसरी ओर को मुड़ गई। चित्त में विरक्ति के अंकुर उग आए। इससे उनके व्यथापूर्ण हृदय को कुछ शान्ति मिली। चित्त आश्वस्त हुआ। धीरे-धीरे विचारधारा उसी ओर बहती गई। अन्त में उन्होंने जगत् के समस्त पदार्थों की ममता का परित्याग करके मुनि-अवस्था अंगीकार कर ली।

काट रहा था कि भोजन का समय हो जाने से उसकी पत्नी भोजन-सामग्री के साथ वहाँ आ पहुँची । बढ़ई अपना काम अधूरा छोड़कर नीचे उतरा और भोजन करने की तैयारी करने लगा ।

प्रकृति के रहस्यों को समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। कब, कहां और कैसे कौनसी घटना घटित हो रही है, यह सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकता । उस घटना के भीतर क्या मर्म है, यह जान लेना भी सर्वसाधारण के लिए कठिन है।

बलभद्र मुनि के पास एक मृग आया। वह अपने सिर से कुछ ऐसी चेष्टाएँ करने लगा कि मुनि ने समझा—यह मुझे साथ चलने का संकेत कर रहा है। मुनि अपने स्थान से उठे ही थे कि मृग मुनि की ओर पीछे देखता हुआ कुछ आगे बढ़ा। जैसे आगे बढ़ कर वह मुनि का मार्गप्रदर्शन कर रहा था और यह भी देख रहा था कि मुनि मेरे पीछे आ रहे हैं या नहीं। मुनि मृग की चेष्टाओं को अनुमान से समझते हुए उसके पीछे हो गए। आगे-आगे मृग एवं पीछे-पीछे मुनि चले जा रहे थे।

आखिर मृग वहीं जा पहुँचा, जहाँ वह बढ़ई भोजन करने बैठ रहा था। मुनि को आया देख बढ़ई को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इस निर्जन वन में मुनि जैसे उत्तम पात्र को आहार-दान का अवसर मिलने के लिए वह अपने भाग्य की सराहना करने लगा। उसने अपनी जगह खड़ा होकर कहा—भगवान् ! मैं गरीब आदमी हूँ। रूखा-सूखा खाकर उदर-निर्वाह करता हूँ। यह रोटियाँ हैं और छाछ है। अगर इन्हें स्वीकार कर सकें तो अत्यन्त कृपा हो।

मुनि ने कहा—भद्र ! मुनि के लिए सरस-नीरस आहार समान है। प्रेम के साथ दिये जाने वाले निर्दोष आहार का बड़ा मूल्य है। तुम्हें असुविधा न हो तो आहार ग्रहण कर सकता हूँ।

मुनि ने गंभीर विचार किया और तत्काल ही निश्चय भी कर लिया। उन्होंने अपने आगे बढ़ते हुए कदम रोक लिये। मुख पीछे की ओर फेर लिया एवं जिस ओर से आए थे, उसी ओर वापिस चले गए। मुनिराज निश्चय कर चुके थे कि अब नगर में कभी भिक्षा के लिए भी नहीं जाऊँगा। यह अनर्थकारी दृश्य किसी को नगर में देखने को न मिलेगा। बस, उसी दिन से बलभद्र मुनि ने बस्ती में जाकर भिक्षा लेने का त्याग कर दिया। वे वन में ही रहकर तपस्या करने लगे।

जिस वन में बलभद्र मुनि तपस्या कर रहे थे, उस वन में एक दिन एक बढ़ई लकड़ी काटने आया। उसने बड़े-बड़े वृक्षों की शाखाएँ काट कर गिरा दी। मगर उसका कार्य सम्पूर्ण नहीं हुआ। वह एक विशाल वृक्ष की मोटी-सी शाखा

सोच रहा था कि भोजन का समय हो जाने से उसकी पत्नी भोजन-सामग्री के साथ यहाँ आ पहुँची । बढ़ई अपना काम अधूरा छोड़कर नीचे उतरा और भोजन करने की तैयारी करने लगा ।

प्रकृति के रहस्यों को समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है । कब, कहाँ और कैसे कौनसी घटना घटित हो रही है, यह सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकता । उस घटना के भीतर क्या मर्म है, यह जान लेना भी सर्वसाधारण के लिए कठिन है ।

बलभद्र मुनि के पास एक मृग आया । वह अपने सिर से कुछ ऐसी चेष्टाएँ करने लगा कि मुनि ने समझा—यह मुझे साथ चलने का संकेत कर रहा है । मुनि अपने स्थान से उठे ही थे कि मृग मुनि की ओर पीछे देखता हुआ कुछ आगे बढ़ा । जैसे आगे बढ़ कर वह मुनि का मार्गप्रदर्शन कर रहा था और यह भी देख रहा था कि मुनि मेरे पीछे आ रहे हैं या नहीं । मुनि मृग की चेष्टाओं को अनुमान से समझते हुए उसके पीछे हो गए । आगे-आगे मृग एवं पीछे-पीछे मुनि चले जा रहे थे ।

आखिर मृग वहीं जा पहुँचा, जहाँ वह बढ़ई भोजन करने बैठ रहा था । मुनि को आया देख बढ़ई को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । इस निर्जन वन में मुनि जैसे उत्तम पात्र को आहार-दान का अवसर मिलने के लिए वह अपने भाग्य की सराहना करने लगा । उसने अपनी जगह खड़ा होकर कहा—भगवान् ! मैं गरीब आदमी हूँ । रूखा-सूखा खाकर उदर-निर्वाह करता हूँ । यह रोटियाँ हैं और छाछ है । अगर इन्हें स्वीकार कर सकें तो अत्यन्त कृपा हो ।

मुनि ने कहा—भद्र ! मुनि के लिए सरस-नीरस आहार समान है । प्रेम के साथ दिये जाने वाले निर्दोष आहार का बड़ा मूल्य है । तुम्हें असुविधा न हो तो आहार ग्रहण कर सकता हूँ ।

महाराज भरत ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि एक पात्र तेल से लबालब भर दो और इस स्वर्णकार के हाथों में दे दो। तेल का पात्र लेकर यह अयोध्या के बाजारों में घूमे। हथियारबन्द सिपाही इसके पीछे-पीछे चलते रहें एवं देखते रहें कि कहीं एक बून्द भी तेल न गिरने पाए। अगर गिर जाय तो उसी समय तथा उसी जगह इसकी गर्दन धड़ से अलग कर दी जाए।

चक्रवर्ती महाराज का यह आदेश सुनकर स्वर्णकार का हृदय काँप उठा। वह अत्यन्त भयभीत हुआ। मगर कर क्या सकता था? महाराज की आज्ञा का पालन करने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। यद्यपि भरतजी ने अपने सिपाहियों को एकान्त में कुछ और बात भी कहदी थी, परन्तु स्वर्णकार को उसका पता नहीं था। वह तो यही सोच रहा था कि आज प्राणों पर घोर संकट आ गया है!

जिन-जिन मार्गों से स्वर्णकार ले जाया जाने वाला था, वे मार्ग विशेप रूप से सजाये गये थे। स्वर्णकार उन मार्गों को पार करता हुआ और तेल का पात्र हाथों में थामे हुए चलने लगा। उसके सिर पर मौत नाच रही थी। अतएव उससे बचने के लिए जो भी उपाय वह कर सकता था, उसने किए। उसने अपने मन को पूरी तरह एकाग्र किया, जिससे कि वह सजावट की ओर न चला जाए! स्वर्णकार भलीभाँति जानता था कि मेरे जीवन-मरण का आधार मन ही है। मन एक भी क्षण के लिए इधर-उधर गया था कि तेल नीचे गिरेगा एवं तेल के गिरते ही मेरा सिर भी धड़ से गिर जाएगा। अतएव उसने अपना उपयोग तेल के कटोरे पर ही स्थिर किया। बाजार में सजावट थी, राग-रंग था, मन तथा इन्द्रियों को लुभाने वाली

सभी सामग्री विद्यमान थी, परन्तु स्वर्णकार उन सब के मध्य में से गुजरता हुआ भी अलिप्त था। कोई भी आकर्षण उसे अपनी ओर खींचने में समर्थ न हो सका।

इस प्रकार तेल के कटोरे पर अपनी दृष्टि और मन को एकाग्र करके स्वर्णकार ने अपना परिभ्रमण पूरा किया। अन्त में वह फिर भरत महाराज के समक्ष पेश किया गया।

स्वर्णकार की पहले जो मनोदशा थी, वह अब नहीं थी। उसे प्राणों की चिन्ता नहीं रही थी। मृत्यु को जीत लेने की प्रसन्नता का उसे अनुभव हो रहा था। अन्तःकरण से भय भी निकल गया था।

महाराज भरत ने उससे पूछा—स्वर्णकार, बतलाओ, आज बाजार में घूमते समय तुमने क्या-क्या देखा है ? तुम प्राण दण्ड से मुक्त हो गए हो। अब किसी प्रकार की चिन्ता न करो और सच-सच बताओ।

स्वर्णकार को और अधिक आश्वासन मिला। उसने विनीत भाव से कहा—महाराज बाजार में क्या-क्या देखा, इस प्रश्न का उत्तर देने में मैं सर्वथा असमर्थ हूं, क्योंकि मैंने तेल के कटोरे के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं देखा। मैं देखता भी कैसे? देखने का अर्थ था-सदा के लिए आँखें मींच लेना। मेरे साथी कहते हैं कि बाजार में सजावट थी, भांति-भांति राग-रंग हो रहे थे, परन्तु मैंने कटोरे के सिवाय अन्य सब वस्तुओं को मौत का कारण समझा। मैं कटोरे की ओर इतना एकाग्र था कि तथा किसी ओर मेरा मन नहीं गया। ऐसी स्थिति में कैसे बता सकता हूं कि मार्ग में क्या था एवं क्या नहीं था? मैं तो यही जानता हूं कि मैं था और मेरे हाथों में तेल का भरा कटोरा था। उस समय सारी सृष्टि मेरे लिए कटोरे में ही समा

भी इन गोरखधंधों में फँसे हैं ?

भरतजी ने उसकी आकृति देखकर मनोभावना को समझ लिया। तब वह बोले—स्वर्णकार, मैं चाहूँ तो आज ही इस षट् खण्ड के राज्य का परित्याग कर सकता हूँ; परन्तु तुम जानते हो कि पिताजी ने प्रजा की सेवा और देश के संगठन एवं सुशासन का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा है। जिस देश में सुशासन नहीं होता, प्रजा में शान्ति नहीं होती, न्याय-नीति के साथ प्रजा अपना जीवन नहीं बिताती, उस देश में धर्म नहीं पनप सकता। धर्म का महल नीति की नींव पर ही स्थिर रह सकता है। अतएव मैं जिस कार्य में लगा हूँ, वह धर्म की प्रतिष्ठा का ही एक अंग है। प्रजा के कल्याण के लिए ही मेरा सब समय और समस्त शक्तियाँ समर्पित हैं। न मुझे राज्य का लोभ है, न वैभव की भूख है। जिस दिन लोकसेवा का मेरा कार्य पूर्ण हो जाएगा; जब मैं समझूँगा कि शासन सुव्यवस्थित एवं स्थिर हो गया है; अथवा जिस दिन मेरी जिम्मेवारी को ठीक तरह पूरा कर देने वाला मेरा कोई उत्तराधिकारी तैयार हो जाएगा, उसी दिन भरत राज्य भवन को त्याग कर वन की ओर चल देगा।

भरतजी का यह वक्तव्य सुनकर स्वर्णकार ने आज उनकी महत्ता को पूरी तरह जान पाया। भरतजी के प्रति उसकी श्रद्धा और अधिक बढ़ गई। अपने सन्देह तथा विरुद्ध प्रचार के लिए वह अत्यन्त लज्जित हुआ। अपनी ढिठाई के लिए वह बार-बार क्षमा माँगने लगा। भरत महाराज ने उसे सान्त्वना देकर घर भेज दिया। स्वर्णकार ने अब अपना प्रचार बन्द कर दिया। भगवान् आदिनाथ के प्रति उसके हृदय में भी अखण्ड श्रद्धा उत्पन्न हो गई। साथ ही उसने अपने जीवन

का महत्व भी समझ लिया। उसने विचार किया—जब संसार के सर्वोत्कृष्ट सुखों के पात्र चक्रवर्ती भरतजी जैसे भी लोक-कल्याण के कार्यों में ही रत रहते हैं और लुभावने पदार्थों में तनिक भी आसक्त नहीं होते तो मैं इनके सामने क्या हूँ? मेरे पास कितनी-सी भोग-सामग्री है? धिक्कार है मुझे कि मैं इन तुच्छ भोगों में आसक्त हूँ!

वास्तव में आत्मा के उत्थान और पतन में भावना का बड़ा महत्त्व है। भरत महाराज ने इस तत्त्व को सम्यक् प्रकार से समझ लिया था। यही कारण है कि वे ऊपर-ऊपर से महारंभी एवं महापरिग्रही दिखाई देते थे, फिर भी उनका अन्तःकरण निर्लिप्त था। अलिप्तता या अनासक्ति के प्रभाव से वे जल में कमल की तरह रहते तथा कार्य करते थे।

एक बार भरत महाराज अपने शीशमहल में अपने शरीर की सुन्दरता को निरख रहे थे। उस समय, अचानक ही, उनकी अंगुली में से एक हीरे की अंगूठी निकल कर गिर पड़ी। उन्होंने [illegible]

थी, वह तो उधार ली हुई थी। इसमें अपना निज का सौन्दर्य कहाँ है? यह अपवित्र पदार्थों से बना हुआ है। रज-वीर्य से इसका निर्माण हुआ है। मल-मूत्र, हाड़-मास पर टिका हुआ है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी इसके संसर्ग से अपवित्र हो जाती है। संसार में गंदी से गंदी जो वस्तु मानी जाती है, वह इस शरीर के सम्पर्क से ही अपवित्र बनती है।

आत्मा स्वभाव से अशरीर है, अमूर्त्त है, ज्ञानस्वरूप है, परन्तु शरीर के संबंध से वह मूर्त और अज्ञान बन रही है। इसी कारण वह अनादि काल से संसार में परिभ्रम कर रही है और नाना प्रकार के दुःख भोग रही है। आत्मा को समस्त दुःखों से मुक्त करने का उपाय अशरीर-अवस्था प्राप्त करना ही है।

इस प्रकार का विचार करने से भरत महाराज को प्रबल वैराग्य हो आया। उनकी विचार श्रेणी बहुत ऊँची उठ गई। वे अपने भावों से साधुता की कोटि पर जा पहुँचे। फिर अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके अन्ततः मोहकर्म को सर्वत्र नष्ट कर दिया। मोहनीय कर्म सब कर्मों का राजा है। उसके क्षीण होने पर अन्य कर्म ढीले पड़ जाते हैं और अधिक समय तक नहीं ठहर सकते। अतएव उनके ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय इन तीन घाति कर्मों का भी एक साथ क्षय हो गया। उनकी आत्मा पूर्ण वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अनन्तशक्तिमान् हो गई। वे जीवन्मुक्त परमात्मा के पद को प्राप्त हुए।

चक्रवर्त्ती भरत की कहानी एक अनूठी कहानी है। वह बड़ी ही बोधदायक है। मनुष्य के जीवन का क्या उद्देश्य होना [illegible] मात में

श्रौर भविष्य में शान्ति प्राप्त हो सकती है ? इत्यादि प्रश्नों का उनकी जीवनी से सुन्दर समाधान होता है। इस कहानी से अनासक्ति का महत्त्व हमारे हृदय-पटल पर अंकित हो जाता है। जिसने बाह्य पदार्थों का त्याग नहीं किया है, वह यदि उनके प्रति सर्वथा अनासक्त है, तो वे पदार्थ उसकी आत्मा के उद्धार में बाधक नहीं हो सकते। इसके विपरीत ,भोगोपभोग की सामग्री न होने पर भी अगर कोई उनकी लालसा रखता है, उनके प्रति मन में आसक्ति रखता है, तो उसकी आत्मा का पतन होता है।

सारांश यह है कि वर्त्तमान जीवन में तथा आगामी जीवन में सुखी होने का एक ही राजमार्ग है और वह है अनासक्ति। चक्रवर्त्ती महाराज भरत की कथा से जो यह बोध प्राप्त करके इसी के अनुसार व्यवहार करेगा, उसका कल्याण होगा।

卐

महावीर भगवान्

आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले की घटना है। हमारे इस देश में हिंसा का भयानक दौर चल रहा था। हजारों पशु यज्ञ के बहाने मौत के घाट उतार दिये जाते थे। राजा यज्ञ करते और धर्म के ठेकेदार पुरोहित उन्हें उत्तेजना देते एवं स्वर्ग मिलने का आश्वासन देते थे। ऐसी स्थिति में उन मूक पशुओं की पुकार सुनने वाला कौन था ? जब रक्षक ही भक्षक बन जाय तो बचाने वाला कौन ?

ऐसे समय में 'चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षत्रिय कुंड के राजा सिद्धार्थ के यहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ। आपकी माता का नाम त्रिशला था।'

भगवान् जब माता के गर्भ में आये तब राजा सिद्धार्थ की विभूति, महिमा, मान-प्रतिष्ठा आदि में खूब वृद्धि हुई थी। अतएव जन्म होने पर आपका नाम वर्द्धमान कुमार रक्खा गया। कुमार अपने नाम के अनुसार द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे। उनका रूप अत्यन्त सुन्दर था। शरीर बड़ा सुन्दर, सुडौल और स्वर्ण के समान गौर था। वह बचपन में भी विशिष्ट शक्तिशाली, निर्भीक एवं बुद्धिमान् थे।

एक बार कुमार अपने साथी बालकों के साथ जंगल में खेलने गये। वे एक वृक्ष पर चढ़ कर खेल रहे थे कि अचानक एक बड़ा विषधर वहाँ आ पहुँचा। उसने वृक्ष के तने को घेर लिया। साक्षात् काल रूप सर्प को देखकर बालक घबरा उठे और कई डर के मारे वृक्ष पर से गिर भी पड़े। मगर कुमार वर्द्धमान इतने निर्भय थे कि जरा भी नहीं घबराये। वे धैर्य के साथ साँप के फन पर पैर रख कर नीचे उतरे और उसे पकड़ कर एक तरफ छोड़ आये। उन्होंने बालकों के भय को दूर ही नहीं कर दिया, उन्हें आश्चर्य में भी डाल दिया। कहते हैं तभी से वर्द्धमान का नाम 'महावीर' पड़ा।

कुमार जन्म काल से अपूर्व ज्ञानी थे। उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त था। जो भी कोई उनके पास आता, उसके संदेह का वे निवारण कर देते। उनके हृदय में बाल्यावस्था से ही वैराग्य के प्रबल संस्कार विद्यमान थे। अपने कई पूर्वभवों में तपस्या करके वे आये थे। अतएव संसार का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वैभव और मनोहर से मनोहर भोगोपभोग भी उन्हें लुभा नहीं सकते थे। वे राजमहल में रहते अवश्य थे, मगर उसी प्रकार, जैसे जल में कमल रहता है—अलिप्त।

वर्धमान अक्सर चिन्तन में मग्न रहा करते थे। उन्हें

वाहर के रंग-राग नहीं सुहाते थे। अनेक चिरन्तन प्रश्न उनके मस्तिष्क में आते और वे उनके संबंध में विचार करते। आखिर मानव-जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए? मनुष्य की चरम सफलता किस उपलब्धि में है? प्रत्येक प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील होकर भी सुखी नहीं दीखता तो सुख का वास्तविक मार्ग क्या है? इस प्रकार के अगणित प्रश्न उनके मस्तिष्क में चक्कर काटते रहते थे।

धीरे-धीरे गृहस्थी में रहते हुए उनके जीवन के तीस वर्ष व्यतीत हो गए। उस समय तक उनकी विरक्ति परिपक्व हो चुकी थी। जगत् उन्हें कारागार के समान प्रतीत होने लगा। संसार के भोगोपभोग उन्हें नितान्त निस्सार प्रतीत हो हो रहे थे। अतएव उन्होंने आत्मकल्याण के लिए साधना करने का मार्ग अपनाने का निश्चय कर लिया। सोने के सिंहासन को, सुखदायी राजमहल को और प्रेमी परिवार को त्याग कर वे भिक्षुक बन गये। भिक्षुक बनने से पहले उन्होंने विपुल दान दिया।

दीक्षा अंगीकार करके भगवान् जंगल में जाकर ध्यानमग्न हो गये। सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जीव आते, उन्हें देखकर गुर्राते, परन्तु अहिंसा और करुणा की मूर्त्ति भगवान् के समीप आकर वे ठंडे पड़ जाते थे। भगवान् के मन न भय था- न द्वेष था। अतएव हिंसक प्राणी भी उनके मित्र बन जाते थे।

उन दिनों जंगल में एक बड़ा ही दृष्टिविष सर्प था- चंड कौशिक। उस के डर से लोग काँपते थे। उस की ओर कोई जाने का साहस नहीं करता था। उधर का रास्ता बन्द हो गया था। पर निर्भीक भगवान् एक दिन, लोगों के मना करने पर भी उसके बिल के पास जा पहुंचे चण्ड कौशिक

उन्हें देख कर फुंफकारने लगा। वह समझता था कि मैं अपनी नज़र के ज़हर से ही इस बाबा को भस्म कर दूंगा। परन्तु बाबा जी ऐसे-वैसे साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे अपनी अमित अनुकम्पा और असीम समता के द्वारा विष को अमृत बना देने वाले अलौकिक महापुरूष थे।

चण्ड कौशिक फुफकारता रहा और बाबाजी सुमेरू की तरह खड़े रहे। सर्प क्रोध से जल रहा था तथा बाबा जी प्रशमभाव का पानी उस पर छिड़क रहे थे। साँप की दृष्टि से विष बरस रहा था, बाबा जी की दृष्टि से अमृत का झरना बह रहा था। एक ओर हिंसा थी, दूसरी ओर अहिंसा थी, दोनों में संघर्ष था।

अहिंसा सदैव हिंसा पर विजय पाती है। अहिंसा वह अमोघ शस्त्र है जो कदापि बेकार नहीं होता। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। जब चण्डकौशिक की दृष्टि के विष को महावीर स्वामी ने अपनी दया, करुणा और अहिंसा की शक्ति से अमृत बना लिया एवं वह विष उनका कुछ भी न बिगाड़ सका, तो चण्डकौशिक और ज्यादा कुपित हो उठा। उसने सर्राटे के साथ आकर महावीर स्वामी के पैर में अपनी विषैली दाढ़ें चुभा दी। रक्त के बदले दुग्ध के समान धवल धारा बहने लगी। भगवान् अविचल खड़े रहे। साँप चकित हो रहा था। इतने में भगवान् ने कहा—'चण्डकौशिक ! बुज्झ, बुज्झ।'

सर्प भगवान् की तरफ टकटकी लगाकर देखने लगा। उसी समय उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने जान लिया कि पहले जन्म में मैं साधु था, परन्तु अपने शिष्य पर क्रोध करने के कारण मुझे साँप की योनि में आना पड़ा है।

यह ज्ञात होने पर चण्डकौशिक पश्चात्ताप की आग में जलने लगा। वह प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और ...

करके प्राण त्याग कर [illegible] में देव रूप में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार भगवान् ने एक महा भारी उपसर्ग सहकर नाग का उद्धार किया और जनता के संकट को दूर किया।

विहार करते-करते एक बार अनार्य देश में चले गये। वह देश साधु सन्तों के लिए बिलकुल अनुपयुक्त था। वहाँ अत्यन्त क्रूर, असंस्कारी, अधार्मिक और विवेकहीन लोग रहते थे। अतएव कोई भी साधु उधर जाने का साहस नहीं करता था। परन्तु महावीर स्वामी तो कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे वहाँ गये। अनार्य लोगों ने उन्हें घोर कष्ट दिये। किसी-किसी ने कुत्तों को छुछकार कर उनके पीछे लगा दिया और काटने के लिए उत्साहित किया। किसी ने उनके शरीर पर धूल फेंकी। किसी ने पत्थर और डण्डे मारे। किसी ने गाँव में न घुसने दिया। इस प्रकार अमानवीय अत्याचार सहन करते हुए भी भगवान् ने अनार्य देश में अत्यन्त समभाव से विचरण किया। किसी पर क्रोध नहीं किया। जिस प्रकार युद्ध में वीर सेनापति शत्रु की मार की परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भगवान् भी आने वाले संकटों और कष्टों को परवाह न करते हुए अनार्य देश में विचरण करते रहे।

भगवान् महावीर की तपस्या बड़ी उग्र थी। शीतकाल में वे जलाशयों के सन्निकट ध्यान लगा कर खड़े हो जाते थे। वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे और ग्रीष्म ऋतु में धूप में खड़े होकर आतापना लेते थे।

भगवान् को शरीर के प्रति तनिक भी ममता या आसक्ति नहीं थी। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर लिया था। देहाध्यास से वे सर्वथा मुक्त हो चुके थे। शरीर में रहते हुए भी शरीर से सर्वथा भिन्न थे यही कारण है कि खान-

पान के विषय में सर्वथा उदासीन रहते थे। अपने निमित्त बनाया आहार नहीं लेते थे। शुद्ध और निर्दोष आहार ही जब जहाँ मिल जाता, ले लेते थे, अन्यथा निराहार रहते थे। भगवान् ने कई बार एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास, तथा यहाँ तक कि छह मास तक के लम्बे-लम्बे उपवास किये थे। कई बार वे बड़े ही कठिन अभिग्रह धारण कर लेते थे और जब तक उनकी पूर्ति न हो जाती, तब तक आहार ग्रहण नहीं करते थे। ऐसे एक अभिग्रह का उल्लेख चन्दनबाला की कथा में किया जा चुका है। बारह वर्ष, छह मास, एवं चौदह दिन की घोर तपश्चर्या के लम्बे काल में भगवान् ने केवल ३४९ दिन ही आहार किया। शेष दिन निराहार रहकर ही व्यतीत किये।

भगवान् इस समय में प्रायः मौन रहते थे। रात की रात खड़े रहकर ध्यान में व्यतीत कर देते थे। कभी श्मशान में, कभी खंडहरों में और कभी दूसरे एकान्त स्थानों में ध्यान किया करते थे। उन्हें रात्रि में शयन करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई थी।

इस प्रकार करीब साढ़े बारह वर्ष तक भगवान् महावीर ने उग्र से उग्र तपश्चर्या की। इसी कारण वे दीर्घ तपस्वी कहलाते हैं। संसार में अनेक बड़े-बड़े तपस्वी हुए हैं और उन्होंने भी बड़ी कठोर तपस्या की है, परन्तु भगवान् महावीर जैसी उग्र तपस्या करने वाला कोई दूसरा महापुरुष संसार के इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकी तपस्या का विस्तृत वर्णन आचारांग आदि शास्त्रों में मिलता है। उसे पढ़कर ही साधारण व्यक्तियों का दिल दहल जाता है! जिज्ञासु पाठकों को आचारांग का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

हाँ, तो [illegible] में भगवान् ने घोर से घोर कष्टों को [illegible] सहन किया। महावीर के कष्टों को देखकर देवराज इन्द्र का हृदय भी पसीज उठा और वह उनकी सहायता तथा रक्षा करने को आया। मगर भगवान् ने सहायता लेने से इन्कार करते हुए स्पष्ट कहा—वीर पुरुष अपने ही साहस से दुःखों का सागर पार करते हैं। दूसरों की सहायता लेना अपनी शक्ति को कुंठित करके देता है। भगवान् का सिद्धान्त था कि

'अप्पा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं वहिया मित्तमिच्छसि ।'

— आचारांग सूत्र

हे पुरुष ! तू आप ही अपना मित्र है। दूसरे मित्र की क्यों इच्छा करता है ? सचमुच भगवान् ने किसी की सेवा-सहायता अंगीकार नहीं की। वे आप ही भयानक से भयानक कष्टों से जूझते रहे और अपने अप्रतिहत संकल्प-बल से, अपनी असाधारण धीरता से एवं दृढ़ता से उन्होंने विजय प्राप्त की।

संकटों और कष्टों के साथ संघर्ष करते-करते तथा अप्रमत्त भाव से आत्मसाधना करते-करते अन्त में उनकी आत्मा पूर्णरूप से निर्विकार, निष्कलुष, निष्कषाय और निरंजन हो गई। उन्हें लोकोत्तर दर्शन एवं लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति हुई। साधना की मुख्य मंजिल यहां तय हो गई।

अभी तक महावीर स्वामी वैयक्तिक विकास में ही तल्लीन थे। जब वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गये तब जगत् के कल्याण में तत्पर हुए। सर्व-प्रथम उन्होंने इन्द्रभूति गौतम आदि ब्राह्मण विद्वानों को शंकाओं का समाधान करके उन्हें अपना शिष्य बनाया। वे भगवान् के गणधर कहलाए। देश-

देश में पैदल भ्रमण करके उन्होंने तत्कालीन कुरूढ़ियों, गलत धारणाओं, भ्रान्तियों और बुराइयों को अपने उपदेश से दूर किया। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जगत् में जो जबरदस्त क्रान्ति की, उसे संक्षेप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है:—

१. अहिंसामार्ग—भगवान् के समय में हिंसा का बहुत दौरदौरा था बहुत से लोग हिंसा को धर्म का अंग मानने लगे थे। यज्ञ के नाम पर मनुष्यों, गायों और घोड़ों आदि का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता था। बाहर के क्रियाकांड में ही धर्म समझा जा रहा था। भगवान् ने इस हिंसा एवं बाह्याडम्बर का विरोध करके जनता को अहिंसा की महत्ता समझाई तथा कहा कि जगत् में अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं हो सकता और हिंसा से बड़ा कोई पाप नहीं हो सकता। भगवान् के उपदेश का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा एवं लोगों को हिंसा से घृणा हो गई। अब ऐसे हिंसात्मक यज्ञ नहीं होते, इसका श्रेय भगवान् महावीर के उपदेश को ही है।

२. अनेकान्तवाद—भगवान् के समय में बहुत-से मत-मतान्तर प्रचलित थे और वे एकांगी सत्य को ही सम्पूर्ण सत्य समझते थे। सब का दावा था कि बस, हम ही सच्चे और सब झूठे हैं। भगवान् ने जनता को सर्वांगीण सत्य का स्वरूप समझाया वस्तु के स्वरूप को विविध दृष्टिबिन्दुओं से देखने की शिक्षा दी। पारस्परिक विरोध का मथन करके संकीर्णता की जगह विराटता की स्थापना की। यह सिद्धान्त स्याद्वाद भी कहलाया।

३. कर्मवाद—जीवात्मा दैव नियति या ईश्वर के हाथ की कठपुतली नहीं है। वह स्वयं अपने सुख-दुःख का निर्माता

श्वपाककुल-संभूत महात्मा भी इन्द्रभूति जैसे ब्राह्मणवर्ण के महात्माओं के समान ही आदर पाते थे।

भगवान् महावीर ने आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले जो सामाजिक और धार्मिक आदर्श प्रस्तुत किये थे, उनका पूरी तरह अनुसरण जब तक हमारा देश करता रहा, सुखी, शान्त, समृद्ध एवं स्वतंत्र रहा। समय बीतने पर ज्यों-ज्यों वे आदर्श धुंधले होते गये, देश फिर जाति-पांति के चक्कर में पड़ता गया—जिसमें से भगवान् ने उसे निकाला था, फिर से गुणों के बदले जाति की पूजा होने लगी। समाज में विषमता का विष फैलता गया तथा समाज खंड-खंड होकर दुर्बल हो गया। भारत का विभाजन भी जातिवाद का ही दुष्परिणाम है। महावीर के आदर्शों पर पूरी तरह भारत चला होता तो उसकी स्थिति आज निराली ही होती।

भगवान् के उपदेशों की अनेक विशेषताएं हैं। वह देश और काल की सीमाओं से अतीत है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में समान रूप से उपयोगी है। वह प्राणी मात्र के लिए उपयोगी है।

अन्त में ७२ वर्ष की आयु में राजगृह के निकट अपापा-पुरी (पावापुरी) में भगवान् समस्त कर्मों का क्षय करके निरंजन, निराकार सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

भगवान् के निर्वाण से विश्व का एक असाधारण महा-पुरुष इस भूतल से उठ गया। उनका निर्वाण कार्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में हुआ था। इस काली, अमावस्या ने जगत् में बाह्य अन्धकार ही नहीं फैलाया, वरन् भाव अन्ध-का भी प्रसार कर दिया। उस अन्धकार को दूर करने के लिए राजाओं ने दीपक प्रज्वलित किये—दीपमालिका मनाई और

आज तक उसकी नकल करके प्रतिवर्ष दीपमालिका प्रज्वलित करते हैं, परन्तु वह लोकोत्तर प्रकाश तो सदा के लिए अस्त हो गया।

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसका कुछ भाग अंगागमों में आज भी सुरक्षित है। उसके कुछ नमूने इस प्रकार हैः—

१—जो प्राणी मात्र को अपने समान समझता है—अपने-पराये को समान दृष्टि से देखता है, आत्मा का दमन करता है, वह पापकर्म से लिप्त नहीं होता।

२—समस्त इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करते हुए पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटकती रहती है और सुरक्षित आत्मा दुःखों से मुक्त हो जाती है।

३—जो पुरुष यह निश्चय कर लेता है कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु धर्म का त्याग नहीं करूंगा, उसे इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकती, जैसे सुमेरु पर्वत को आंधी।

४—आप स्वयं अपने सुख-दुःख के कर्त्ता और हर्त्ता हैं। सन्मार्गगामी आपकी आत्मा आपकी मित्र है तथा उन्मार्गगामी आत्मा शत्रु। आत्मा ही कामधेनु नन्दनवन है तथा आत्मा ही वैतरणी नदी एवं कूट शाल्मली वृक्ष है।

(५) युद्ध करो अपनी आत्मा के साथ, दूसरों से युद्ध करने से क्या लाभ है?…कंठ काटने वाला शत्रु उतना अनिष्ट नहीं करता, जितना अनिष्ट दुराचार करके आप स्वयं करते हैं।

(६) जो तू अपने लिए चाहता है, वही दूसरों के लिए चाह। जो तू अपने लिए नहीं चाहता, वह दूसरों के लिए भी मत चाह।

आज कोई तीर्थंकर नहीं, किन्तु सौभाग्य से तीर्थंकरों के संदेश को फैलाने वाले साधु विद्यमान हैं। वे जगह-जगह पैदल घूमकर जनता को आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि जब कभी हमें साधुसमागम का अवसर मिले तो हम अपना सौभाग्य मानें। उनका आदर-सत्कार करें। उनके उपदेश को शिरोधार्य करें और अपने जीवन को पवित्र वनावें।

卐

रक्षाबन्धन

रक्षाबन्धन भारत वर्ष के मुख्य त्योहारों में से एक है। यह त्योहार श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। उस दिन भारत भर में एक विशेष प्रकार का उल्लास फैल जाता है। जैन और जैनेत्तर- सभी हिन्दू प्रेम के साथ इस त्योहार को मनाते हैं। इस दिन वहिन अपने भाई को राखी वांधती है और उसके कल्याण की कामना करती है।

रक्षाबन्धन त्योहार कव से प्रचलित हुआ, इस संवंध में जैनों और अजैनों में दो कथाएं प्रचलित हैं। अजैनों में प्रचलित कथा इस भाँति है:—

राजा वलि दैत्यों का राजा था। वह वड़ा दानी था। दान आदि के प्रभाव से उसका तेज इतना वढ़ गया कि इन्द्र भी भयभीत हो गया। इन्द्र ने सोचा - वलि अपने तेज से इन्द्रासन पर वैठ जायगा और मैं अपने पद भ्रष्ट हो जाऊँगा। यह सोचकर इन्द्र, विष्णु की शरण में गया। वोला—भगवान्, हमारी रक्षा कीजिए। दैत्य हमें सता रहे हैं वे हमारा राज्य छीनना चाहते हैं। विष्णु ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करके

वामन (बोने) का रूप धारण किया। वे राजा बलि के द्वार पर जा पहुँचे। बलि बड़ा दानी था और साथ ही अभिमानी भी था। विष्णु ने उससे दान की याचना की। बली ने पूछा-क्या चाहते हो?

वामन रूपधारी विष्णु बोले – रहने के लिए सिर्फ साढ़े तीन पैर धरती। बली ने उसके ५२ अंगुल के छोटे शरीर को देखकर हँसते-हँसते कहा - इतना ही क्या माँगा? कुछ और भी माँग ले।

वामन– इतना मिल जायगा तो बहुत है।

बलि ने साढ़े तीन पैर ज़मीन देना स्वीकार कर लिया। तब विष्णु ने अपना वामन रूप त्याग कर विशाल रूप धारण किया। उन्होंने अपनी तीन लम्बी डगों में स्वर्ग नरक और पृथ्वी-तीनों लोक नाप लिये। इसके बाद बलि से कहा-तीन पैर तो हो गए, अब आधे पैर भर ज़मीन और दे।

बेचारा बलि चकित और भयभीत हो गया। वह और ज़मीन कहां से लाता? वह अधिक ज़मीन न दे सका, तब विष्णु ने उसके सिर पर पैर रखकर दबाया तथा उसे पाताल में भेज दिया। इस प्रकार दैत्यों के उपद्रव को दबा कर विष्णु ने भारत को सुरक्षित किया।

जैनशास्त्रों में रक्षाबन्धन की कथा इस प्रकार है:—

विष्णु नामक मुनि बड़े ही तपस्वी और तेजस्वी थे। उनके समय में चक्रवर्ती राजा का राज्य था। राजा के प्रधान का नाम नमूची था। राजा ने वचनबद्ध होकर एक बार सात दिन के लिए राज्य के समस्त अधिकार नमूची को दे दिये। नमूची कट्टर नास्तिक और संतविरोधी था। उसे साधु शब्द से भी चिढ़ थी। वह साधुओं को भगाने लगा। साधु बड़े संकट में

में सहायक हों। मनुष्यजीवन का सबसे बड़ा लाभ सेवा, परोपकार और परदुःखमोचन में है।

卐

ललितांग-कुमार

लगभग सत्ताईस सौ वर्ष पहले की बात है। भारत वर्ष में, 'श्रीवास' नामक नगर था। उस नगर के राजा नरवाहन के पुत्र थे ललितांग।

राजकुमार ललितांग राजनिति के वेत्ता, विद्यावान् और बुद्धिमान् थे। धर्म के सुन्दर संस्कार वे पूर्वभव से ही लेकर आए थे, उनका हृदय अत्यन्त उदार था। अन्तःकरण में करूणा की लहरें उठती थी, दान शीलता उनका सामान्य स्वभाव बन गया था।

कुमार का एक' सज्जन, नामक मित्र था, जो गुणों से दुर्जन था। वह बड़ी ही धूर्त्तता से कुमार का मित्र बन गया था। सज्जन स्वभाव से ही कुमार के सद्गुणों का विरोधी था। कुमार जब दान देता तो वह मना करता और कहता–तुम्हारी यह दानशीलता ही किसी दिन तुम्हें ले डूबेगी। पर कुमार अपने विचार पर दृढ़ था कुमार का विश्वास था–अच्छे का फल अच्छा ही होता है। सज्जन कहता–'नहीं' अच्छे का फल बुरा होता है।

कुमार की दानवीरता की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी प्रतिदिन कोई न कोई दीन–दुखिया उनके पास आया ही करता था। एक दिन कई दुखी जन ललितांग के पास आए। उन्होंने अपने दुःख की कथा कह सुनाई कुमार करूणा की मूर्त्ति थे। उनकी कष्ट-कथा सुनकर उनका कलेजा काँप उठा। अंगुली में से हीरे की अंगुठी निकाल कर उन्हें देदी।

'अच्छे का फल बुरा होता है' इस बात को प्रमाणित करने के लिए और कुमार को नीचा दिखाने के दिए सज्जन को अच्छा अवसर मिल गया। उसने राजा नरवाहन के पास जाकर और तिल को ताड़ बनाकर चुगली खाई। इस पर राजा ने कुमार को बुला कर डांट-फटकार बतलाई एवं भविष्य में ऐसा न करने की सूचना कर दी। कुमार पितृभक्त थे। उन्होंने कहा-आपकी आज्ञा का यथासभव पालन करूंगा।

कुछ दिन बीते। एक दिन कुमार सैर करने जा रहे थे। कि रास्ते में कुछ संकटग्रस्त लोगों ने उन्हें घेर लिया। पिताजी की आज्ञा का पालन करते हुए कुमार ने उनकी कुछ सहायता की, परन्तु वह पर्याप्त न थी। वे संतुष्ट न हुऐ। उन्होंने फिर आजीजी की। कुमार का कोमल दिल पिघल गया। उन्होंने गले से अपना मूल्यवान् हार निकाला और उनका दुःख दूर करने के लिए दान में दे दिया।

सज्जन उस समय भी साथ था। वह फिर राजा के पास पहुँचा। सब बात कह सुनाई। अपने आदेश का उल्लंघन समझ कर राजा ने ललितांग कुमार को देश निकाले का दंड घोषित कर दिया। पितृभक्त राजकुमार ने पिता की आज्ञा स्वीकार कर राज्य से बाहर जाने के लिए प्रस्थान कर दिया।

यह है कि तुम्हारे [illegible] आभूषण और
वस्त्र आदि मेरे [illegible] स्वीकार है?

कुमार ने [illegible]

दोनों आगे चले तो एक ओर [illegible] एक [illegible]
दस पांच आदमी बैठे आराम कर रहे थे। सज्जन ने उनसे पूछा
बताओ भाई, भलाई का परिणाम भला होता है या बुरा?

बुरा-बुरा, सब एक साथ कह उठे।

कुमार-कैसे?

एक बोला-देखो, एक बार हमारे राजा यहाँ आए। हमने हृदय खोलकर उनका स्वागत किया। अतएव उन्होंने हमें धनाढ्य समझ लिया। जाते-जाते हमारे खेतों पर लगान बढ़ा गये। इस प्रकार भलाई करने का बदला बुरा हुआ।

सज्जन जीत गया। शर्त के अनुसार कुमार ने अपना अश्व एवं आभूषण आदि उसे दे दिये। सज्जन घोड़े पर सवार हो गया और राजकुमार चरवाहे के रूप में उसके साथ चलने लगा। चलते-चलते भी सज्जन राजकुमार को ताने मारता जाता था। कुछ आगे चलकर उसने कहा-अब भी तुमने मेरे सिद्धान्त को स्वीकार किया या नहीं? स्वीकार न किया हो तो एक बार फिर निर्णय करा डालें। मगर इस बार जो पराजित होगा, उसे अपने नेत्र निकाल कर दे देने होंगे।

राजकुमार ने कहा-सज्जन, मेरा विचार अब भी ज्यों का त्यों है। चाहो तो फिर निर्णय करा सकते हो।

इस प्रकार बातें करते-करते वे कुछ दूर जा पहुँचे। मार्ग में उन्हें एक विशाल वट वृक्ष मिला। उसकी छाया में कुछ लोग बैठ कर विश्राम कर रहे थे। सज्जन ने कहा-चलो इन्हीं से फैसला करवालें। दोनों वहीं ठहर गए।

आखिर उनके सामने भी यही प्रश्न रखा गया। उन्होंने अपना निर्णय दे दिया—'भले का बदला बुरा मिलता है।' निर्णय के साथ नजीर भी पेश की, अभी एक राजा यहाँ आया था। उसने इसी वट-वृक्ष की छाया में विश्राम किया। जाते समय उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि हाथी के लिए इसी वृक्ष के पत्तं तोड़ लाया करो।

कुमार को फिर पराजित होना पड़ा। सज्जन ने प्रतिज्ञा के अनुसार कुमार के दोनों नेत्रों की मांग की। इस बार की शर्त बड़ी कड़ी थी, पर सत्यनिष्ठ राजकुमार ने जरा भी आगा-पीछा न सोचकर एक पैने उस्तरे से दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये। नेत्रों से रक्त की धारा बह निकली। पर कुमार ने अपने सत्य का पालन करने के लिए इसकी परवाह न की। धूर्त सज्जन ! कुमार को अंधा बनाकर चल दिया। जाते जाते बोला-'अच्छा भाई, मैं जाता हूँ। तुम भलाई का बदला भला भोगते रहना।'

कुमार अब अकेला रह गया। निर्जन वन था। आँखों से सूझता नहीं था और ऊपर से पीड़ा हो रही थी। वह जाय तो कहाँ जाय ? करे तो क्या करे ? फिर भी सत्य की शक्ति पर उसे पूरा भरोसा था। वह सोचता था—सत्य भगवान् है। सत्य के रूप में मैंने भगवान् की आराधना की है। मुझे इसके लिए कोई पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। वह धैर्य धारण किये उसी वट के नीचे बैठा रहा।

सन्ध्या हुई। सूर्य अस्ताचल पर आरूढ़ हुआ। हंसों का एक झुंड रात-बसेरा करने के लिए उसी वट-वृक्ष पर आकर बैठा। हंसों में एक युवक हंस था। उसने कहा—हम असली मोती चुगते हैं, परन्तु बदले में जगत् का क्या उपकार करते हैं ? कुछ भी तो नहीं। इस दृष्टि से हमारा जीवन निरर्थक है।

कुमार को अब किसी प्रकार की चिन्ता न रही। वह उस निर्जन वन से चला और चम्पा नगरी में आ पहुँचा। उस समय चम्पा के राजा जितशत्रु थे। उनकी कन्या कुसुमवती नेत्र-हीन थी। राज्य था, वैभव था, सभी सुख थे, पर कन्या की अन्धता ने उन सबको फीका कर दिया था। कुमारी जब छोटी थी तब तो चिन्ता भी मामूली थी, पर जब वह विवाह के योग्य हो गई तो चिन्ता भी बढ़ गई। राजा जितशत्रु ने इधर-उधर की खूब खाक छानी, सभी सभव प्रयत्न किए, अनेक प्रलोभन दिये, पर कोई भी योग्य युवक उस कन्या का पाणिग्रहण करने को तैयार नहीं हुआ। समग्र राजपरिवार घोर चिन्ता और अपमान की आग में जलने लगा। आखिर राजा ने विचार किया—यों पल-पल और तिल-तिल जलने की अपेक्षा तो एक साथ जल कर मर जाना ही क्या बुरा है? यह जलन जन्म भर मिटने की नहीं। यह सोचकर उसने जल मरने का विचार

दिवान को इस युद्ध का पता चला तो वह भागा-भागा राजा के पास आया। राजा ने कहा-एक चरवाहे को मैंने अपना जामाता बनाया और आधा राज्य देकर बराबरी का पद दिया! मगर वही आज मेरा सारा राज्य हड़प लेना चाहता है! मैं उसके अरमानों को पल भर में कुचल दूंगा!

दिवान दूरदर्शी था और कुमार के उच्च चरित्र को भलीभांति जानता था। उसने कहा-अन्नदाता! कुमार की दुरभिसन्धि को अवश्य कुचल ना चाहिये; पर क्या आपको इसके लिए प्रमाण मिल गया है?

राजा—हाँ, उसके मृत घनिष्ट मित्र ने ही सब कुछ बतलाया है।

दीवान—महाराज?

अन्तर अंगुरी चार को साँच-झूठ में होइ।

सबमाने देखी-कहीं, सुनी न माने कोइ।

यों सुनी बातों के आधार पर गृह-विग्रह छेड़ देना योग्य नहीं जान पड़ता। पहले पूरी तरह छानबीन कर लेना उचित है। कहीं ऐसा न हों कि आपकी विजय भी पराजय के रूप में परिणित हो जाय! सज्जन को विश्वास पात्र व्यक्ति कैसे समझा जा सकता है? आज तक कुमार के किसी भी आचरण से विरोध का भाव प्रकट नहीं हुआ। वह आपके प्रति अत्यन्त आदरपूर्ण भाव रखते हैं। तथापि नये सिरे से जाँच कर लेनी चाहिये।

दीवान की बात राजा के गले उतर गई। जाँच-पड़ताल का काम दीवान को सौंपा गया। परिणाम वही आया जो आना चाहिए था। कुमार सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुआ। यह भी पता चल गया कि वह चरवाह नहीं, श्री निवास बस्ती के

महाराज नरवाहन के ज्येष्ठ पुत्र हैं। दीवान ने जब महाराज जितशत्रु को अपनी जाँच-पड़ताल का परिणाम बतलाया तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। साथ ही वह अपने भाग्य की सराहना करने लगे कि उनका षड्यंत्र विफल हो गया! कदाचित् सज्जन के कथन से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण कुमार को प्राण दण्ड मिल गया होता तो कितना भीषण अनर्थ हो जाता! वह अपनी प्राण प्यारी पुत्री के वैधव्य के तथा निर्दोष और उपकारी जामाता की हत्या के कारण बन जाते? जीवन कलंकित हो जाता?

अन्त में ललितांग कुमार के पिता और श्वसुर का सम्मिलन हुआ दोनों ने कुमार को योग्य जानकर-दोनों राज्यों का अधिपति बनाया और आप निवृत्तिमार्ग के पथिक बने। कुमार ने कुछ दिनों तक दोनों राज्यों का न्याय-नीतिपूर्वक पालन किया। आखिर उन्हें भी एक दिन वैराग्य हो गया। उन्होंने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तरदायित्व संभला कर आत्मा के अक्षय कल्याण का पथ ग्रहण किया।

ललितांग की कथा का अक्षर-अक्षर पुकार कर कह रहा था।

(१) जीवन का वास्तविक सुख दान और परोपकार करके दूसरों को सुखी बनाने में है।

(२) तत्काल चाहे कुछ भी जान पड़े मगर इसमें सन्देह नहीं कि भलाई का फल भलाई और बुराई का फल बुराई है। जैसे अमृत से मृत्यु नहीं हो सकती, उसी प्रकार भलाई का फल बुरा नहीं हो सकता।

(३) सुनी-सुनाई बात पर विश्वास करके उत्तेजित मत होओ। सौभाग्य से तुम्हें बुद्धि प्राप्त है, उसका उपयोग करो। अपने विवेक को उत्तेजना की आग में भस्म मत होने दो।

(४) सांसारिक वासनाएँ कभी शाश्वत आनन्द नहीं दे सकतीं। अक्षय आनन्द चाहते हो तो वासनाओं पर विजय प्राप्त करो। वासनाओं को जीतने का मार्ग वही है जिस पर तीर्थंकर चले हैं, अर्थात् गार्हस्थिक झंझटों से हट कर एकान्त रूप से आत्मासाधना करना!

मानवजीवन के उत्कर्ष के यह चार सूत्र जो ध्यान में रक्खेगा वही अपने जीवन को सफल बना सकेगा।

卐

वन्दना

प्रत्येक श्रावक और साधु के लिए भगवान् ने छह नित्य-कृत्य बतलाये हैं। उन्हें षट् आवश्यक भी कहते हैं। यह षट् आवश्यक, यदि भावपूर्वक किये जाएँ तो, जीवन को अत्यन्त उन्नत, पवित्र और मंगलमय बनाते हैं। जीवन की शुद्धि के लिए इनसे बढ़ कर अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता।

वन्दना उन छह आवश्यक कृत्यों में तीसरा है। अपने से अधिक गुणवान् पुरुषों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करना वन्दना कहलाता है। वन्दना इस बात का संकेत है कि हम वन्दनीय पुरुष के गुणों के प्रति निष्ठा रखते हैं, उनका आदर करते हैं, उन्हें अपने लिए हितकर समझते हैं। वन्दना करते समय यही भावना होनी चाहिए कि हमारे अन्तरात्मा में भी वेही गुण प्रकट हो जाएँ!

वन्दना करने से क्या लाभ होते हैं? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं बतलाया है:—

अर्थात् (गुणाधिक पुरुषों को) वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र का बन्ध करता है और अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है, सर्वत्र आज्ञा का लाभ करता है।

वन्दना करने से अहंकार की अभिमानवृत्ति नष्ट होती है और चित्त में नम्रता का प्रादुर्भाव होता है। गुणीजनों का आशीर्वाद प्राप्त होने से कल्याण की प्राप्ति होती है। अतएव आत्मार्थी गुणाधिक पुरुषों को वन्दना करना चाहिए।

शरण (मेघ मुनि)

राजगृह (मगध) के सम्राट् श्रेणिक का नाम अत्यन्त विख्यात है। वह अपने अन्तिम जीवन-काल में भगवान् महावीर के परमभक्त हो गये थे। उनकी अनेक रानियाँ थीं। उनमें से एक रानी का नाम धारिणी था।

महारानी धारिणी ने एक रात्रि में सुन्दर शय्या पर शयन करते हुए एक शुभ स्वप्न देखा। स्वप्न देखते ही उनकी निद्रा भंग हो गई। उसी समय वह महाराजा श्रेणिक के समीप गई। स्वप्न का वृत्तान्त बतलाने पर श्रेणिक ने कहा—'प्रिये ! तुम्हारा स्वप्न अतिशय शुभ फलदायक है !' अपने पति के मुख से स्वप्न का यह फल सुनकर रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ।

महारानी धारिणी ने वह रात्रि, उसके बाद, जागकर ही व्यतीत की। यथासमय रानी गर्भवती हुई। गर्भावस्था में वह अपने आहार-विहार में अत्यन्त सावधान रहने लगी। उसने ज्यादा मीठा, ज्यादा खट्टा, ज्यादा चरपरा, गरिष्ठ-दुष्पच आहार करना त्याग दिया। गर्भ के लिए हितकारी पथ्य भोजन करने लगी। चिन्ता, शोक, उद्वेग, सन्ताप, भय आदि मानसिक विकारों को भी धारिणी ने त्याग दिया। वह शान्त प्रसन्न एवं शुभ मनोदशा में रहकर अपने गर्भ की प्रतिपालना करने लगी। रानी को भली-भाँति ज्ञात था कि अपथ्य आहार करने से तथा मानसिक विकारों के वशीभूत होने से गर्भस्थ शिशु पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शिशु के जीवन का बहुत-सा निर्माण गर्भ-अवस्था में हो ही जाता है। गर्भिणी महिला यदि सावधान न रहे और विवेकपूर्वक गर्भ की यतना से रक्षा न करे तो गर्भस्थ शिशु का सम्पूर्ण जीवन खराब हो जाता है।

कुछ दिनों पश्चात् रानी धारिणी को अकाल में ही मेघ बरसने के और हरियाली के दृश्य देखने का दोहद हुआ। परन्तु वर्षा ऋतु न होने के कारण उसकी पूर्ति होना कठिन था। इच्छा की पूर्त्ति न की जाय तो शिशु के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता था। मगर महाराज श्रेणिक के अत्यन्त बुद्धिशाली पुत्र अभयकुमार की कुशलता से किसी प्रकार उनकी वह इच्छा भी पूरी हो गई।

समय पूर्ण होने पर धारिणी देवी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। मेघ का दोहद होने के कारण पुत्र का नाम 'मेघकुमार' ही रक्खा गया। मेघकुमार सूर्य के समान प्रतापशाली, चन्द्रमा के समान सौम्य और बृहस्पति के समान बुद्धिमान था। तत्कालीन प्रथा के अनुसार मेघ कुमार ने समस्त कलाओं में कौशल

प्राप्त कर लिया। उस समय शिक्षा की समाप्ति हो जाने के पश्चात् ही विवाह-संस्कार होता था। तदनुसार मेघ कुमार का विवाह भी धूमधाम से हो गया।

कुमार को संसार के सभी सुख सुलभ थे। मगध के राजकुमार को कमी किस चीज़ की हो सकती थी? किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। कोई विशेष उत्तरदायित्व सिर पर नहीं था। निश्चिन्त भाव से आमोद-प्रमोद करने में ही कुमार का समय व्यतीत हो रहा था।

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात एक दिन महाप्रभु महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। उस समय के लोगों का कितना सौभाग्य था कि उन्हें तीर्थंकर देव की सुधामयी वाणी श्रवण करने का तथा उनके दर्शन करने का परम दुर्लभ अवसर प्राप्त था। भगवान् के पदार्पण का संवाद पाते ही जनता में अपूर्व उल्लास और आनन्द फैल गया। नागरिकों के चित में धर्मभाव की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगी। लोग अपने भाग्य की सराहना करने लगे। झुन्ड के झुन्ड बना कर नर-नारी भगवान् की उपासना के लिए चल दिये। प्रभु की दिव्य ध्वनि श्रोताओं के कानों में पड़ी और उनकी अन्तरात्मा शीतल हो गई।

एक दिन राजकुमार मेघ भी भगवान् का उपदेश सुनने गये। भगवान् स्वयं वीतरागता की मूर्ति थे। उनके चेहरे पर झलकने वाली वीतराग छवी दर्शकों के मन मोहित किये बिना नहीं रहती थी। फिर वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उनकी वाणी में भी अद्भुत विशेषतायें थी। यह मिलकर अपूर्व प्रभाव डालती थी।

मेघ कुमार धर्म के संस्कार लेकर ही उत्पन्न हुऐ थे।

ऊपर से साक्षात् तीर्थंकर देव का उपदेश मिल गया। उनके हृदय में सुषुप्त विरक्ति एकदम जागृत हो गई। उन्होंने आत्मा के बन्धनों को तोड़ फेंकने का निश्चय कर लिया। क्षणिक और परिणाम में दारूण दुःख देने वाले विषय भोगों से उन्हें घृणा हो गई। आत्मा राम में रमण करने का अप्राप्तपूर्व आनन्द पाने के लिए उनका हृदय मचल पड़ा। उन्होंने राजमहल में आकर माता-पिता आदि की अनुमति प्राप्त की और जगत् के विराट वैभव से विमुख होकर अकिंचन अनगार अवस्था अंगीकार करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उन्हें सुपात्र समझ कर दीक्षित किया और मोक्ष-मार्ग का पथिक बना दिया।

मेघ कुमार राजकुमार न रह कर मुनि बन गये। मुनि बनने का अर्थ है- नवीन जीवन आरंभ करना। संसार-व्यवहार में धन-सम्पत्ति को प्रमुखता दी जाती है, पर मुनिजीवन तो उसके त्याग पर निर्भर है। अतएव धन के आधार, वहाँ कोई वर्गीकरण नहीं होता, मुनियों के जगत् में पूर्ण साम्यवाद प्रचलित है। आज का दीक्षित चक्रवर्ती भी कल दीक्षित हुए, दरीद्र कुल से निष्क्रान्त मुनि के चरणों का स्पर्श करके मस्तक नमाता है। हीरा, माणिक मोती आदि रत्नों की वहाँ कोई पूछ नहीं। वह पाषाण के खण्ड समझे जाकर उपेक्षणीय होते हैं। वहाँ आदर होता है दूसरे ही प्रकार के रत्नों का। वह रत्न हैं—सम्यक्, दर्शन, ज्ञान और चारित्र। साधु-संसार के यही तीन रत्न हैं। यह रत्न जिसके पास जितने अधिक परिमाण में है, वह उतना ही बड़ा रात्निक—रत्नों का स्वामी—है। यही आदर-सत्कार का पैमाना है। इन्हीं रत्नों के कारण वहाँ प्रतिभा मिलती है।

मेघकुमार किस कुल से आये हैं, यह बात नगण्य थी। वह कल क्या थे, इससे क्या प्रयोजन? सम्राट् के लाडले बेटे थे तो भले थे मुख्य प्रश्न यह है कि वह इस समय क्या हैं?

मुनि की महत्ता उसे पूर्व जीवन में निहीत नहीं है। अपने गृहस्थजीवन का स्मरण करना भी मुनि के लिए निषिद्ध है। वह सम्राट था, राजा था, सेठ था, सेनापति था राज्य का अमात्य था, यह वात उसे भूल जानी चाहिए। उसके समक्ष एक–केवल एक मात्र–ध्येय यह रहना चाहिए कि उसे भविष्य में क्या वनना है ? अपने भूत जीवन को विस्मृत करके, भविष्य के लक्ष्य को अपनी दृष्टि के सन्मुख रखकर जो वर्त्तमान को साधना में विलीन कर देता है, वही अपने लक्ष्य को पाता है।

हाँ, तो मेघ मुनि सम्राट के कुमार थे; मगर इस हैसियत से उन के साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता था। तीर्थंकर भगवान् के शासन में अमीर–गरीव का का भेद नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—हे अनगार; तू धनवान् को जैसा उपदेश देता है, निर्धन को भी वैसा ही दे; और निर्धनों जैसा उपदेश देता है वैसा ही धनवान् को भी दे।

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थइ

—श्रीमदाचारांग सूत्र,

(२)

मुनि-जीवन की पहली रात्रि थी। सोने के लिए मुनियों का स्थान दीक्षा में छोटे-बड़े के क्रम से निर्धारित था। तदनुसार मेघ मुनि की बारी अन्त में आई। द्वार के समीप उन्हें शयन करने को स्थान मिला। रात्रि के समय मुनियों का आवागमन उसी द्वार से होता रहा। कई बार अन्धकार के कारण मेघ-मुनि के शरीर को ठोकर भी लगी। निद्रा में व्याघात हुआ। पैरों की धूल भी उनके शरीर पर गिरी। इन कारणों से मेघ मुनि रात भर सो न पाये।

स्त्रियां हीन दृष्टि से देखी जाने लगी। पुरुषों ने उनके अधिकांश अधिकार छीन लिये। मानो, समाज में उनका कोई मूल्यवान् अस्तित्व ही न रह गया !

आखिर चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का समय आया। उस समय तक महिलाजाति हीनतर दशा को प्राप्त हो चुकी थी। वैरागी कहते थे—

द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी।

अर्थात्—नरक का एक मात्र द्वार नारी ही है।

कई लोगों ने विधान बना दिया—'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्।' अर्थात्–स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है ! वे वेद को पढ़ लें तो वेद अपवित्र हो जाएंगे !

परन्तु भगवान् महावीर अद्वितीय सुधारक लोकोत्तर महापुरुष हुए। उन्होंने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त कर जब संघ का निर्माण किया तो महिलाजाति को भी वही सब अधिकार प्रदान किये जो पुरुषजाति को प्राप्त थे। चतुर्विध संघ में साधुओं और श्रावकों की भांति साध्वियों और श्राविकाओं की भी गणना की। महिलाओं ने भी अपनी धार्मिक भावना को खूब चरितार्थ किया। भगवान् के संघ में संत चौदह हजार थे तो सतियां छत्तीस हजार थीं ! सती चन्दनबाला, जिनका चरित आगे दिया जायगा, इन सतियों की नायिका थी।

सतियां, सन्तों की ही तरह सकल चरित्र का पालन करती हैं। उनके लिए भी साधुओं के समान पांच महाव्रतों, पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का पालन करने का विधान है। वे भी भिक्षा-वृत्ति करती हैं, केशों का लुंचन करती हैं, पैदल विचरती हैं और कठिन तपस्या करती हैं। अभिप्राय यह है कि सतियों का चरित्र-संयम साधुओं के समान ही होता है।

जाति की विशेषता के कारण छोटी-छोटी बातों में कुछ अन्तर है भी तो वह नगण्य है।

देखने से पता चलेगा कि वे सादे और शुक्ल वस्त्र को धारण किये हैं। भाषा संबंधी यतना के लिए मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी है। जीवदया के निमित्त बगल में रजोहरण है। एक हाथ में झोली है। कितना भव्य वेष है!

भगवान् महावीर की सतियों ने धर्म के प्रचार में बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया है। धन्य हैं वे महानारियाँ जो सुख-सामग्री त्याग कर धर्म के पथ पर चलती हैं।

卐

हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र अयोध्या के राजा थे। वे सूर्यवंशी राजाओं की यशस्वी परम्परा में उत्पन्न हुए और अपनी सत्यवादिता के लिए आज तक संसार में प्रसिद्ध हैं।

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में राजा हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा को सुनकर सभी देव बहुत प्रसन्न हुए, किन्तु एक देव के चित्त में ईर्षा उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा—इन्द्र महाराज भी कभी-कभी अनोखी-सी बात कह देते हैं। हाड़-मांस के पुतले मनुष्य की प्रशंसा करके इन्द्र ने देवों का अपमान किया है!

आखिर देव अपनी अप्सराओं को साथ लेकर, राजा हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने के लिए अयोध्या की ओर चला। नगरी से कुछ दूर पर, वन में, विश्वामित्र ऋषि का आश्रम था। देव आश्रम में आकर हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित

उठी। नेत्र लाल हो गये और चेहरा तमतमा उठा। होठ फड़कने लगे।

ऋषि क्रोध ही क्रोध में आश्रम से चल कर राजा के दरवार में आये। हरिश्चन्द्र विनीत और नम्र पुरुष थे। उन्होंने ऋषि को उचित आसन प्रदान किया। तत्पश्चात् वह बोले—राजन्, मैं न्याय कराने आया हूं।

राजा—आज्ञा दीजिए।

ऋषि—अप्सराएं मेरे आश्रम को तहसनहस कर रहीं थीं। समझाने पर भी वह न मानी और अकड़ने लगी। विवश होकर मैंने उन्हें लताओं से वांध दिया, किन्तु मेरे एक प्रतिद्वन्द्वी राजा ने गुप्त रूप से उन्हें मुक्त कर दिया। उस राजा ने आश्रम की व्यवस्था में इस प्रकार हस्तक्षेप करके अपराध किया है। उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए।

राजा—भगवन्! अपराधी आपकी सेवा में उपस्थित है। जो उचित समझें, दण्ड दीजिए। मगर मेरे मन में प्रतिद्वन्द्वी वनकर आपकी अवज्ञा करने का विचार नहीं था। हां, एक निवेदन है। वह यह कि दण्ड देने और वन्दी वनाने का अधिकार राजा का है। यदि कोई विना अधिकार किसी को वन्दी वनाता है तो वह क्या स्वयं अपराधी नहीं वन जाता?

हरिश्चन्द्र की यह युक्तियुक्त वात सुनकर विश्वामित्र की क्रोधाग्नि और अधिक भड़क उठी। वह आपे से वाहर होकर वोले—अज्ञान राजा, मेरा अपराधी होकर भी उलटा मुझे अपराधी वतलाता है? हम ऋषियों की वातों में भी टांग अड़ाता है? तू सूर्यवंश के सिंहासन पर वैठने योग्य नहीं।

राजा—आप सन्त हैं। कुछ भी कहिए। पर मेरा कोई दोष मुझे नहीं दिखाई देता। मैंने दया से प्रेरित होकर दुखियों

का दुख दूर किया है। आप ही सोचिए, उन अप्सराओं से मेरा क्या स्वार्थ था ? फिर भी आप मुझे अपराधी समझते हैं तो किसी मध्यस्थ से निर्णय करवा लीजिए।

विश्वामित्र समझ तो गये कि राजा निर्दोष है; मगर चुप रह जाएँ तो अपमान होता है ! मध्यस्थ मुझे दोषी ठहरा देगा तो क्या होगा ?

इस प्रकार अहंकार के वश होकर विश्वामित्र मध्यस्थ के निर्णय के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने अब कपट का आश्रय लिया। चेहरे पर मुस्कराहट लाकर कहा—तो राजधर्म का पालन करने के लिए तुमने देवियों को बन्धनमुक्त किया है ?

राजा—जी हाँ।

ऋषि—राजधर्म का पालन इसी बात में है या और कोई तरीका है पालने का ?

राजा—महाराज, मैं अपने विवेक के अनुसार सब प्रकार से अपने धर्म का पालन करता हूँ।

ऋषि-अच्छा, हम याचक हैं। हमारी माँग पूर्ण कीजिये।

राजा—माँग लीजिए, जो चाहिए।

ऋषि— कह कर बदल तो नहीं जाओगे ?

राजा-हरिश्चन्द्र के सत्य से आप परिचित नहीं हैं ?

चंद्र टरे सूरज टरै, टरै जगत्-व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिश्चंद्र को, टरै न सत्य विचार॥

ऋषि—ठीक, तो मैं तुम्हारा समस्त राज्य और वैभव मांगता हूँ। बोलो देते हो कि नहीं ?

राजा—यह क्या बड़ी माँग है ! अभी लीजिए। आप शरीर की चमड़ी मांगते तो इसे भी प्रसन्नतापूर्वक दे देता।

धन्य धन्य राजा हरिश्चन्द्र हैं,
धन्य-धन्य तारा रानी।
सत्य धर्म की रक्षा के हित,
ऐसी क्या-क्या हैरानी।
नगर-नगर सब जग में घर-घर,
शास्त्रकार नित गाते हैं।
जीवन-वृत्त श्रवण कर पुलकित,
श्रोता नहीं अघाते हैं।
भूमण्डल पर हरिश्चन्द्र के—
सुयश नित्य गाये जाएँ।
सदा काल सर्वत्र सत्य की,
विजय-पताका फहराए।

(अमर मुनि)

卐

क्षमा

जैन धर्म में क्षमा को मुख्य स्थान दिया गया है। यति (मुनि) के दस धर्मों में क्षमा को पहला दर्जा प्राप्त है। मनुष्य कितना ही सावधान होकर चले, कभी न कभी, किसी न किसी के प्रति अपराध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में क्षमायाचना कर लेना ही एक मात्र उत्तम उपाय है। क्षमायाचना कर लेने से हृदय का शल्य निकल जाता है। चित्त स्वस्थ और शान्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जब दूसरे से कोई अपराध हो गया हो और वह विनम्र भाव से क्षमायाचना करे तो उदारतापूर्वक उसे क्षमा करें।

क्षमाभाव धारण करने से आत्मा शान्ती का अनुभव होता है। आत्मा की शुद्धि होती है। यही कारण है कि जैनों में पर्युषण पर्व के अवसर पर संवत्सरी के दिन खमत-खामणा अर्थात् क्षमा करने और कराने की पद्धति प्रचलित है। इस दिन वर्ष भर में किये हुए अपराधों के लिए क्षमायाचना की जाती है और अन्तःकरण को निर्मल बनाया जाता है। इस अवसर पर बड़ी से बड़ी शत्रुता को भी भुला दिया जाता है। जैन इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएं प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक यह है :—

उज्जैन का राजा चन्द्रप्रद्योतन वीर पुरुष था, परन्तु उसकी विषय वासना बढ़ी हुई थी। उसने विषयासक्त होकर सिन्धु सौवीर के राजा उदायन की दासी का अपहरण करने का विचार किया। एक दिन वह उसे चुराकर ले भी गया। दासी सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य में उसकी आंखें चौंधिया गई। चन्द्रप्रद्योतन ने अपनी प्रतिष्ठा और कुलीनता का भी विचार नहीं किया। मोह में पड़ कर मनुष्य कितना मूढ़ और पतित बन जाता है।

उदायन को जब यह वृत्तान्त मालूम पड़ा तो उसने सोचा—चन्द्रप्रद्योतन को दासी की आवश्यकता थी तो वह मुझसे मांगता। मगर उसने ऐसा नहीं किया और चोरी की। यह घोर अनीति है और दासी के प्रति बड़ा अत्याचार भी है। चन्द्रप्रद्योतन ने मुझे कमजोर समझ कर ऐसा किया है। इस अन्याय का मुझे प्रतीकार करना चाहिए और यह भी बता देना चाहिए कि अनीति प्रबल होती है या नीति प्रबल होती है ?

उदायन ने अपना दूत भेज कर चन्द्रप्रद्योतन से

दिन उदायनपूर्ण धर्मभावना में रहते हैं। इस समय मेरी बेड़ी कट गई तो कट गई; अन्यथा नहीं कटने की। संवत्सरी का दिन ही मेरी मुक्ति का द्वार है। यह सोचकर चन्द्रप्रद्योतन ने कहा—मैं भी आपकी तरह क्षत्रिय हूँ। मेरा और आपका एक ही धर्म है। अतः मैं भी धर्म की आराधना करूंगा।

उदायन—जैसी आपकी इच्छा।

दोनों राजाओं ने पोषध किया। चन्द्रप्रद्योतन पोषध की विधि नहीं जानता था, अतः उदायन की देखादेखी सब क्रियाएँ करता जाता था। सन्ध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण करके समस्त जीवों से क्षमायाचना की और फिर चन्द्रप्रद्योतन से कहा-बन्धु, मोहनीय कर्म की माया बड़ी विचित्र है। ऐसा न होता तो मेरी दासी के प्रति आपके मन में दुर्भावना क्यों उत्पन्न होती? कहाँ आप उज्जैन के अधिपति और कहाँ एक दासी! मुझे राजधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना पड़ा। मेरी जगह आप होते तो आपको भी यही करना पड़ता। खैर, सब प्रकार का वैर भूल कर मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

अपराध था चन्द्रप्रद्योतन का और क्षमायाचना करते हैं राजा उदायन। पराजित और बंदी राजा के प्रति एक शूर-वीर विजेता की यह क्षमा प्रार्थना क्या कम महत्त्व रखती है? चन्द्रप्रद्योतन का प्रताप, सैन्य और शस्त्र जिस वीर के एक रोम में भी भय का संचार न कर सके, वही वीर आज अपने बंदी के प्रति क्षमा का प्रार्थी है! इन उदाहरणों के रहते रहते कौन कह सकता है-क्षमा कायर का शस्त्र है? उदायन का यह चरित्र 'क्षमा वीरस्य भूषणम्, की घोषणा करता है।

उदायन की क्षमायाचना से चन्द्रप्रद्योतन चकित और लज्जित हो गया। मगर तत्काल ही संभल गया। उसने सोचा-

और परमात्मा का स्वभाव समान है। फिर भी सब जीवों का विकास एक सरीखा नहीं है। जिन्होंने विकास की चरम सीमा प्राप्त कर ली है, वे मुक्त या सिद्ध जीव कहलाते हैं। वे सब समान ही होते हैं, क्योंकि जहाँ पूर्णता है, वहाँ सजातीय पदार्थों में विविधता संभव नहीं है।

जिन जीवों की आत्मा कर्म-विकारों से मलीन है और इस कारण जो जन्म-मरण के चक्र में पड़े हैं, वे जीव संसारी कहलाते हैं। कर्म-विकार की विविधता के कारण संसारी जीवों में भीं विविधता पाई जाती है। जो जीव स्थावर नाम कर्म के उदय से सिर्फ एक ही इन्द्रिय पाते हैं, जिनमें सर्दी-गर्मी से बचने के लिए गमन-आगमन करने की शक्ति नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं और जो एक से अधिक इन्द्रियों वाले जीव हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं।

त्रस जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय। लट आदि द्वीन्द्रिय हैं, उनके स्पर्शनेन्द्रीय और जीभ इन्द्रिय होती है चिउंटी आदि प्राणी त्रीन्द्रिय हैं, उनके एक नाक इन्द्रिय अधिक होती। भ्रमर, बिच्छू आदि चतुरीन्द्रिय प्राणी हैं उनके चक्षुइन्द्रिय अधिक होती है। ये तीनों प्रकार के जीव विकलेन्द्रिय त्रस कहे जाते हैं।

पाँचों इन्द्रियों वाले जीव सकलेन्द्रिय त्रस कहलाते हैं। वे चार प्रकार के हैं—देव, मनुष्य, नारक और तिर्यञ्च। यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि सभी देव, मनुष्य और नारक पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंचों में ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि भेद पाये जाते हैं।

और परमात्मा का स्वभाव समान है। फिर भी सब जीवों का विकास एक सरीखा नहीं है। जिन्होंने विकास की चरम सीमा प्राप्त कर ली है, वे मुक्त या सिद्ध जीव कहलाते हैं। वे सब समान ही होते हैं, क्योंकि जहाँ पूर्णता है, वहाँ सजातीय पदार्थों में विविधता संभव नहीं है।

जिन जीवों की आत्मा कर्म-विकारों से मलीन है और इस कारण जो जन्म-मरण के चक्र में पडे हैं, वे जीव संसारी कहलाते हैं। कर्म-विकार की विविधता के कारण संसारी जीवों में भीं विविधता पाई जाती है। जो जीव स्थावर नाम कर्म के उदय से सिर्फ एक ही इन्द्रिय पाते हैं, जिनमें सर्दी-गर्मी से बचने के लिए गमन-आगमन करने की शक्ति नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं और जो एक से अधिक इन्द्रियों वाले जीव हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं।

त्रस जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय। लट आदि द्वीन्द्रिय हैं, उनके स्पर्शनेन्द्रीय और जीभ इन्द्रिय होती है चिउंटी आदि प्राणी त्रीन्द्रिय हैं, उनके एक नाक इन्द्रिय अधिक होती है। भ्रमर, विच्छू आदि चतुरीन्द्रिय प्राणी हैं उनके चक्षुइन्द्रिय अधिक होती है। ये [illegible] के जीव विकलेन्द्रिय त्रस कहे जाते हैं।

ज्ञप्ति

जैन मुनि अकिंचन होते हैं। रुपया-पैसा आदि परिग्रह को वे हाथ भी नहीं लगाते। अतएव वे ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकते, जिसके लिए रुपये-पैसे की आवश्यकता हो। यही कारण है, मुनि स्वयं पत्र व्यवहार नहीं करते हैं। जब कभी आवश्यकता होती है तो श्रावक ही श्रावक के नाम पर पत्र लिखते हैं और मुनि को कोई समाचार कहने हों तो कह देते हैं।

मुनि जन सांसरिक व्यवहारों से विमुख होते हैं। दुनियां की झंझटों से उनका कोई सरोकार नहीं होता। अतएव उन्हें पत्र व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती। जो भी धार्मिक व्यवहार होता है, श्रावक ही करते हैं।

卐